भक्तियोग

स्वामी विवेकानन्द

अनुवादक—पं० डा० विद्याभास्कर शुक्ल,
एम० एस-सी०, पी-एच० डी०

(तृतीय संस्करण)

श्रीरामकृष्ण आश्रम
नागपुर, मध्यप्रदेश

मई १९५०]   [मूल्य १।=)

वक्तव्य

-❦-

भक्तियोग का दुहराया हुआ यह तृतीय संस्करण आपके सम्मुख रखते हमें बड़ी प्रसन्नता होती है। इस पुस्तक में श्री स्वामी विवेकानन्दजी ने भक्ति के भिन्न भिन्न प्रकार के साधनों का विवेचन अनेकानेक धर्म-ग्रन्थों तथा आत्मानुभूति के आधार पर किया है। मूल अंग्रेजी पुस्तक का अनुवाद हमारे मित्र पं० डा० विद्याभास्करजी शुक्ल, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर, कॉलेज ऑफ साइन्स, नागपुर ने किया है। डा० शुक्लजी हिन्दी संसार के विख्यात एवं लब्धप्रतिष्ठ लेखक हैं। इस पुस्तक को इस रूप में लाने के लिए उन्होंने जो कष्ट उठाया है उसके लिए हम उनके विशेष आभारी हैं। प्रस्तुत अनुवाद में मुख्य बात यह है कि उसमें मूल भाषण के भाव ज्यों के त्यों रहे हैं। श्री शुक्लजी के अनुवादों में यही बड़ी खूबी है। भाषा की शैली एवं ओज की सुन्दरता भी मूल ग्रन्थ के सदृश ही है।

हमें पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी साहित्य के इस नवीन पुष्प से भक्त-जनों को विशेष लाभ होगा।

नागपुर, **प्रकाशक**

ता. १५-५-१९५०

अनुक्रमणिका

स्वामी विवेकानन्द

भक्तियोग

१. भक्ति की व्याख्या

ईश्वर के प्रति सच्ची और वास्तविक खोज को भक्तियोग कहते है। इस खोज का आरम्भ, मध्य तथा अन्त प्रेम में ही होता है। ईश्वर के प्रति एक क्षण की भी प्रेमोन्मत्तता हमारे लिए शाश्वत मुक्ति की देने वाली होती है। भक्तिसूत्र में नारद जी का कथन है, "भगवान् के प्रति उत्कट प्रेम को ही भक्ति कहते हैं।" जब मनुष्य इसे प्राप्त कर लेता है, तो सभी उसके प्रेम-पात्र बन जाते हैं। वह किसी से घृणा नहीं करता, तथा सदा के लिए संतुष्ट हो जाता है। "इस प्रेम द्वारा किसी काम्य वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि जब तक सांसारिक वासनाएँ अपना प्रभाव जमाए रहती हैं, तब तक इस प्रेम का उदय नहीं होता।" "भक्ति कर्म से श्रेष्ठ है और ज्ञान तथा योग से भी उच्च है, क्योंकि इन सब का एक न एक लक्ष्य रहता ही है, परन्तु भक्ति स्वयं ही साध्य तथा साधनस्वरूपा है।" †

---

† ॐ सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। नारद-सूत्र, प्रथम अनुवाक, द्वितीय सूत्र।
ॐ सा न कामायमाना, निरोधरूपत्वात्। ,, द्वितीय अनुवाक, प्रथम सूत्र।
ॐ सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा। ,, चतुर्थ अनु०, २५ सूत्र।
ॐ स्वयं फलरूपेति ब्रह्मकुमाराः। ,, ,, ३० सूत्र।

हमारे देश के सभी महापुरुषों ने भक्ति-तत्त्व की निरन्तर आलोचना की है। शाण्डिल्य तथा नारद जैसे भक्ति की विशेष रूप से व्याख्या करने वाले महापुरुषों के अतिरिक्त स्पष्टतः ज्ञानमार्ग के समर्थक व्याससूत्र के भाष्यकारों ने भी भक्ति के सम्बन्ध में हमें बहुत कुछ दर्शाया है। भाष्यकार, सब सूत्रों की न सही, परन्तु अधिकतर सूत्रों की व्याख्या शुष्क ज्ञानसूचक रूप से ही करते हैं; परन्तु यदि हम सूत्रों को स्वयं, और विशेषकर उपासना-काण्ड के सूत्रों को, निरपेक्ष भाव से देखें, तो मालूम होगा कि उनकी व्याख्या इस प्रकार नहीं हो सकती।

वास्तव में ज्ञान तथा भक्ति में इतना अन्तर नहीं है जितना लोगों का अनुमान है। पर जैसा हम आगे देखेंगे ये दोनों हमें एक ही लक्ष्य-स्थल पर ले जाते हैं। यही हाल राजयोग का भी है। इसका अनुष्ठान जब मुक्तिलाभ के लिए किया जाता है—किसी सीधे सादे की आँख में धूल झोंकने के ध्येय से नहीं (जैसा बहुधा ढोंगी तथा जादू मंतर वाले करते हैं)–तो यह भी हमें उसी लक्ष्य पर पहुँचाता है।

भक्तिमार्ग का सब से बड़ा गुण यह है कि यह हमारे चरम लक्ष्य (ईश्वरप्राप्ति) के लिए सब से सरल तथा नितान्त स्वाभाविक उपाय है। साथ ही इसका दोष यह है कि निम्नावस्था में यह मनुष्य को बहुधा भयानक परधर्म-द्वेषी (तआस्सुबी) बना देता है। हिन्दू, इस्लाम तथा ईसाई धर्म में जहाँ जहाँ परधर्म द्वेष है,

उसका सञ्चार सदैव ऐसे ही निम्न श्रेणी के भक्तों द्वारा हुआ है। बहुधा ऐसा भी होता है कि किसी विशेष इष्ट-निष्ठा के कारण ही मनुष्य दूसरे धर्मों पर दोषारोपण करने लगता है, यद्यपि यह सच है कि सत्य प्रेम की उत्पत्ति इस प्रकार की निष्ठा द्वारा ही होती है। प्रत्येक धर्म तथा देश में संकीर्ण बुद्धि वाले अपने आदर्श-सत्य के प्रति प्रेम प्रकट करने का एक ही उपाय समझते हैं और वह है—अन्य आदर्शों को घृणा की दृष्टि से देखना। यही इस बात की मीमांसा है कि वह मनुष्य जो अपने ईश्वरादर्श तथा धर्मादर्श में इतना अनुरक्त है, किसी दूसरे आदर्श को देखकर ऐसा घोर द्वेषी क्यों बन जाता है।

इस प्रकार का प्रेम कुछ ऐसा ही है जैसा कि एक कुत्ते का, जो अपने स्वामी की सम्पत्ति की रक्षा दूसरों से करता है, परन्तु फिर भी हम यह कहेंगे कि एक कुत्ते की बुद्धि इस प्रकार के मनुष्यों से कहीं श्रेष्ठ है, क्योंकि वह कुत्ता कम से कम अपने स्वामी को, वह चाहे किसी वेष में क्यों न हो, शत्रु समझकर कभी भ्रमित तो नहीं होता। फिर दूसरी बात यह है कि परधर्म-द्वेषी की विवेचन-शक्ति बिलकुल नष्ट हो जाती है और व्यक्तित्व को वह इतनी प्रधानता देता है कि उसे यह विचार ही नहीं रह जाता कि दूसरा मनुष्य क्या कह रहा है, ठीक या ग़लत; उसे तो सदा इसी बात का ध्यान रहता है कि अमुक बात कह कौन रहा है। बहुधा ऐसा देखा जाता है कि यदि एक मनुष्य जो अपने सम्प्रदाय तथा निज के मत वालों के प्रति दयालु, प्रेमयुक्त तथा सच्चे हृदय वाला है, तो वही मनुष्य

दूसरे सम्प्रदाय वालों से मुठभेड़ होने पर उनके प्रति घृणित से घृणित कार्य करने में भी नहीं हिचकता।

इस बात की आशङ्का भक्ति की उसी निम्नतर अवस्था में रहती है जिसे हम 'गौणी' कहते हैं। परन्तु जब भक्ति परिपक्व हो जाती है और उस अवस्था को प्राप्त हो जाती है जिसे हम 'परा' कहते हैं, तो फिर इस प्रकार की निन्दनीय धर्मद्वेषास्पद वृत्तियाँ नहीं रह जातीं। कारण यह है कि जो व्यक्ति इस 'परा' भक्ति से अभिभूत हो जाता है, वह प्रेमस्वरूप ईश्वर के इतने निकट आ जाता है कि दूसरों के प्रति घृणा-भाव प्रकट करने में उसकी कभी भी प्रवृत्ति नहीं होती।

यह सत्य ही है कि इस जीवन में प्रत्येक मनुष्य अपना चरित्र सामञ्जस्य सहित संगठित नहीं कर सकता; परन्तु फिर भी उसी व्यक्ति का चरित्र सर्व श्रेष्ठ है जिसमें ज्ञान, भक्ति और योग तीनों का सुन्दर संमिश्रण हो। किसी पक्षी के उड़ने के लिए तीन अंगों की आवश्यकता होती है—दो पंख तथा एक पूँछ जो मुड़ने में सहायक होती है। इसी प्रकार मनुष्य के लिए ज्ञान और भक्ति दो पंख हैं और योग पूँछ है जो सामञ्जस्य स्थापित किए रहता है। अतः उनके लिए, जो इन तीन साधना-प्रणालियों का सामञ्जस्य सहित एक साथ अनुष्ठान नहीं कर सकते और फलतः केवल भक्ति-मार्ग ही ग्रहण कर लेते हैं, यह स्मरण रखना आवश्यक है कि बाह्य

अनुष्ठान तथा कर्मकाण्ड, यद्यपि वे आरम्भिक दशा में आवश्यक हैं, फिर भी भगवान के प्रति प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न करने में केवल सहायक-मात्र ही होते हैं।

यद्यपि ज्ञान-मार्ग तथा भक्ति-मार्ग के आचार्यों का भक्ति के प्रभाव में विश्वास है, फिर भी उनमें किसी अंश तक मतभेद है। ज्ञानी की दृष्टि में भक्ति मुक्ति के लिए केवल एक साधन है, परन्तु भक्त की दृष्टि में वह साधन है तथा साध्य भी। मेरी दृष्टि में तो यह भेद केवल नाम मात्र है। वास्तव में भक्ति जब साधनरूप में होती है तो उसका अर्थ केवल निम्नावस्था की उपासना होता है, और यही उपासना आगे चलकर 'परा' भक्ति में परिणत हो जाती है। ज्ञानी और भक्त दोनों ही अपनी अपनी साधना-प्रणाली को विशेष महत्व देते हैं, परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि पूर्ण भक्ति के उदय होने से पूर्ण ज्ञान बिना खोजे ही स्वयं प्राप्त हो जाता है और इसी प्रकार पूर्ण ज्ञान हो जाने से पूर्ण भक्ति भी स्वयं ही आ जाती है।

इस बात को ध्यान में रखते हुए हमें यह विचार करना चाहिए कि इस सम्बन्ध में वेदान्त-भाष्यकारों का क्या कथन है। 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' सूत्र की व्याख्या के सम्बन्ध में भगवान शंकराचार्य का कथन इस प्रकार है-"लोग कहते हैं कि वह अमुक गुरु का भक्त है, अमुक राजा का भक्त है आदि आदि, और इस प्रकार का सम्बोधन वे उसी के लिए करते हैं जिसका एकमात्र लक्ष्य अपने गुरु

आदि का सत्य अनुसरण ही है। इसी प्रकार, जब वे यह कहते हैं कि 'एक पतिव्रता स्त्री अपने विदेशगत पति का ध्यान करती है' तो इसका अर्थ भी एकरूप अविच्छिन्न स्मृति ही है।" ‡ यही श्रीशंकराचार्य के मतानुसार भक्ति का अर्थ है। इसी प्रकार 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' सूत्र की व्याख्या में भगवान रामानुज का कथन यह है—

"जैसे एक पात्र से दूसरे पात्र में तेल की अविच्छिन्न धारा गिरती है वैसे ही किसी ध्येय वस्तु का निरन्तर स्मरण, ध्यान कहलाता है। जब इस प्रकार की ध्यानावस्था (ईश्वर के सम्बन्ध में) प्राप्त हो जाती है तो सब बन्धनों का नाश हो जाता है। शास्त्रों में दर्शाया है कि इस प्रकार का निरन्तर स्मरण मुक्ति का साधन होता है। इस स्मृति तथा दर्शन में कोई भेद नहीं है। कारण, 'जब उस पुरुष के दर्शन हो जाते हैं, जो पर तथा अवर (दूर तथा समीप) है, तो हृदय की ग्रन्थियाँ छिन्न हो जाती हैं, सब संशयों का नाश हो जाता है तथा सारे कर्म क्षय हो जाते हैं।' जो समीप है उसके दर्शन हो सकते हैं तथा जो दूर है उसका स्मरण किया जा सकता है; फिर भी शास्त्रों का कथन है कि हमें समीपस्थ तथा दूरस्थ दोनों के दर्शन करना चाहिए और इससे प्रकट होता है कि

‡ तथाहि लोके गुरुमुपास्ते राजानमुपास्त इति च यस्तात्पर्येण गुर्वादीन-नुवर्तते स एवमुच्यते। तथा ध्यायति प्रोषितनाथा पतिमिति या निरन्तरस्मरणा पतिं प्रति सोत्कंठा सैवमभिधीयते। —ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, ४।१।१

उपरोक्त स्मरण ऐसा ही है जैसा दर्शन। यह स्मृति प्रगाढ़ हो जाने से दर्शन तुल्य हो जाती है।.... ....शास्त्रों में प्रमुख स्थानों पर कहा है कि उपासना का अर्थ निरन्तर स्मरण ही है, और ज्ञान जो निरन्तर उपासना तुल्य है, निरन्तर स्मरण के सदृश ही वर्णित किया गया है।.... ....अतएव श्रुतियों ने उस स्मृति को जिसने प्रत्यक्षानुभूति का आकार धारण कर लिया है मुक्ति का साधन बतलाया है। 'इस आत्मा की अनुभूति न तो नाना प्रकार की विद्याओं द्वारा हो सकती है, न बुद्धि द्वारा और न शुष्क वेदाध्ययन द्वारा। जिस किसी को यह आत्मा वरण करती है उसी को आत्मप्राप्ति होती है तथा उसी के सम्मुख आत्मा अपना स्वरूप प्रकट करती है।" यहाँ यह कहने के उपरान्त कि केवल श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन से ही आत्मोपलब्धि नहीं होती, यह भी दर्शाया गया है कि जिसे यह आत्मा वरण करती है उसी को वह प्राप्त होती है। जो अत्यन्त प्रिय है वही वरण किया जाता है और जो इस आत्मा के प्रति प्रगाढ़ प्रेम रखता है वही आत्मा का सब से बड़ा प्रेमपात्र भी होता है। अतः इस व्यक्ति के आत्मप्राप्त्यर्थ भगवान स्वयं सहायक होते हैं। भगवान ने स्वयं कहा भी है, "जो मुझमें सतत युक्त है तथा प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, उन्हें मैं ऐसा बुद्धियोग देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं।" ‡ अतएव कहा है कि जिस किसी को

---

‡ ध्यानं च तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसंतानरूपा ध्रुवा स्मृतिः। 'स्मृत्युपलंभे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष' इति ध्रुवायाः स्मृतेरपवर्गोपायत्वश्रवणात्। सा च स्मृतिर्दर्शन-

यह प्रत्यक्ष अनुभवात्मक स्मृति अत्यन्त प्रिय है उसी को परमात्मा वरण करता है और उसीको परमेश्वर-लाभ होता है; कारण यह कि स्मृति-विषयीभूत परमात्मा को यह स्मृति स्वयं अत्यन्त प्रिय है। इसी निरन्तर स्मृति को भक्ति कहते हैं।

समानाकारा; 'भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' इत्यनेनैकार्थ्यात्। एवं च सति 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य' इत्यनेन निदिध्यासनस्य दर्शनरूपता विधीयते। भवति च स्मृतेर्भावनाप्रकर्षाद्दर्शन-रूपता। वाक्यकारेणैतत् सर्वं प्रपंचितम्, 'वेदनमुपासनं स्यात् तद्विषये श्रवणादिति सर्वासूपनिषत्सु मोक्षसाधनतया विहितम् 'वेदनमुपासनम्' इत्युक्तम्। 'सकृत्प्रत्ययं कुर्याच्छब्दार्थस्य कृतत्वात् प्रयाजादिवत्' इति पूर्वपक्षं कृत्वा 'सिद्धं तूपासन-शब्दात्' इति वेदनमसकृदावृत्तं मोक्षसाधनमिति निर्णीतम्। 'उपासनं स्याद् ध्रुवा-नुस्मृतिर्दर्शनान्निर्वचनाच्च' इति तस्यैव वेदनस्योपासनरूपस्यासकृदावृतस्य ध्रुवानुस्मृतित्वमुपवर्णितम्। सेयं स्मृतिर्दर्शनरूपा प्रतिपादिता, दर्शनरूपता च प्रत्यक्षतापत्तिः, एवं प्रत्यक्षतापन्नामपवर्गसाधनभूतां स्मृतिं विशिनष्टि 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया, न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्' इति, अनेन केवलश्रवणमनननिदिध्यासनानामात्म-प्राप्त्युपायमुक्त्वा 'यमेवैष आत्मा वृणुते, तेनैव लभ्य' इत्युक्तम्। प्रियतम एव हि वरणीयो भवति, यस्यायं निरतिशयप्रियः, स एवास्य प्रियतमो भवति। यथायं प्रियतम आत्मानं प्राप्नोति, तथा स्वयमेव भगवान् प्रयतत इति भगवतैवोक्तं 'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' इति, 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रिय' इति च। अतः साक्षात्कार-रूपा स्मृतिः, स्मर्यमाणात्यर्थप्रियत्वेन स्वयमप्यत्यर्थप्रिया यस्य, स एव परमात्मना वरणीयो भवतीति तेनैव लभ्यते परमात्मेत्युक्तं भवति, एवंरूपा ध्रुवानुस्मृतिरेव भक्तिशब्देनाभिधीयते।

—ब्रह्मसूत्र, रामानुजभाष्य, प्रथम सूत्र का भाष्य।

पतञ्जलि के 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' सूत्र की व्याख्या में भोज का कथन है कि "प्रणिधान वह भक्ति है जिसमें इन्द्रिय भोगादिक सम्पूर्ण फलाकांक्षाओं का त्याग करके सब कर्म उस परम गुरु परमात्मा को समर्पित कर दिए जाते हैं।" ‖ भगवान व्यास ने भी इसकी व्याख्या में कहा है कि "प्रणिधान वह भक्ति है जिसके द्वारा परमेश्वर उस योगी पर कृपावृष्टि करते हैं तथा उसकी इच्छाओं की पूर्ति निमित्त उसे वरदान देते हैं।" † शाण्डिल्य के मतानुसार "ईश्वर में परमानुरक्ति ही भक्ति है," ‡ और भक्ति की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या वह है जो भक्तराज प्रह्लाद ने दी है, अर्थात् "जैसी तीव्र आसक्ति अविवेकी पुरुष की इन्द्रिय-विषयों में होती है, उसी प्रकार की आसक्ति आपका स्मरण करते समय मेरे हृदय से निकल न जाय।" * यह आसक्ति किसके प्रति? उसी परम पिता परमेश्वर के प्रति—किसी अन्य पुरुष के प्रति प्रेम को, वह चाहे जितना बड़ा क्यों न हो, भक्ति नहीं कह सकते। इसी के समर्थन में एक प्राचीन आचार्य को उद्धृत करते हुए

‖ प्रणिधानं तत्र भक्तिविशेषो विशिष्टमुपासनं सर्वक्रियाणामपि तत्रार्पणम्। विषयसुखादिकं फलमनिच्छन् सर्वाः क्रियास्तस्मिन् गुरावर्पयति।
—पातंजलदर्शन, प्रथम अध्याय, समाधिपाद, २३ वें सूत्र की भोजवृत्ति।

† 'प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण' इत्यादि
—पातंजलदर्शन, प्रथम अध्याय, समाधिपाद, २३ वाँ सूत्र, व्यासभाष्य।

‡ 'सा परानुरक्तिरीश्वरे'—शाण्डिल्यसूत्र, १।२

* या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥ —विष्णुपुराण, १।२०।१९

अपने श्रीभाष्य में रामानुज ने कहा है, "ब्रह्मा से लेकर एक तृण पर्यन्त संसार के सभी प्राणी कर्म के अनुसार जन्म मृत्यु के वश में हैं और इसलिए अविद्यायुक्त तथा परिवर्तनशील होने के कारण वे इस योग्य नहीं है कि साधक के ध्यान में सहायक हों।" †

शाण्डिल्य के शब्द 'अनुरक्ति' पर भाष्यकार स्वप्नेश्वर का कथन है कि इस शब्द का अर्थ इस प्रकार है: 'अनु'—पश्चात्, 'रक्ति'—आसक्ति, अर्थात् वह आसक्ति जो भगवान के स्वरूप तथा उनकी महिमा के ज्ञान के उपरान्त आती है।* नहीं तो स्त्री, पुत्र आदि किसी भी व्यक्ति के प्रति अन्ध आसक्ति को ही हम 'भक्ति' कहने लगेंगे। इस प्रकार हम स्पष्ट देखते हैं कि आध्यात्मिक अनुभूति के निमित्त साधारण पूजा-पाठ से आरम्भ करके ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ प्रेम में लीन होने वाली सतत एवं प्रगतिशील मानसिक चेष्टाओं को भक्ति कहते हैं।

---

† आब्रह्मस्तंबपर्यन्ता जगदन्तर्व्यवस्थिताः।
प्राणिनः कर्मजनितसंस्कारवशवर्तिनः॥
यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः।
अविद्यान्तर्गताः सर्वे ते हि संसारगोचराः॥

* भगवन्महिमादिज्ञानादनु पश्चाज्जायमानत्वादनुरक्तिरित्युक्तम्।

—शाण्डिल्यसूत्र, स्वप्नेश्वर टीका, १।२

२. ईश्वर का स्वरूप

ईश्वर क्या है?—"जिससे विश्व का जन्म, स्थिति और प्रलय होता है।"*—"जो अनन्त, शुद्ध, नित्यमुक्त, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, दयास्वरूप, परमगुरु है" और "जो अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूप है।" †

यह व्याख्या सगुण ईश्वर की है। तो प्रश्न उठता है कि फिर ईश्वर क्या दो हैं? एक सच्चिदानन्द स्वरूप जो ज्ञानी 'नेति नेति' करके प्राप्त करता है और दूसरा भक्त का प्रेममय भगवान? नहीं, सच्चिदानन्द ही प्रेममय भगवान है और वही सगुण तथा निर्गुण दोनों हैं। यह सदा ध्यान में रखना चाहिए कि भक्त का उपास्य सगुण ईश्वर निर्गुण ब्रह्म से भिन्न अथवा पृथक् नहीं है। सब कुछ वही एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म है। परन्तु ब्रह्म का निर्गुण स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण प्रेम तथा उपासना के योग्य नहीं है, और इसीलिए भक्त ब्रह्म के सगुण भाव को परम नियन्ता ईश्वर मानकर उसकी उपासना करता है।

उदाहरणार्थ, ब्रह्म मिट्टी या उपादान के सदृश है, जिससे नाना प्रकार की चीज़ें बनाई जाती हैं। वास्तव में मिट्टी के रूप में वे सब एक हैं, परन्तु उनका बाह्य आकार अलग अलग होने से वे भिन्न भिन्न प्रतीत होती हैं। बनने के पहले गूढ़ भाव में वे सब मिट्टी के रूप में

* जन्माद्यस्य यतः।—ब्रह्मसूत्र, १।१।२

† स ईश्वर अनिर्वचनीयप्रेमस्वरूपः।

ही थीं। उपादान की दृष्टि से वे सब एक हैं, परन्तु जब वे भिन्न भिन्न आकार धारण कर लेती हैं और जब तक वह आकार रहता है तब तक वे पृथक् पृथक् प्रतीत होती हैं। एक मिट्टी का चूहा कभी मिट्टी का हाथी नहीं बन सकता, क्योंकि गढ़ जाने के बाद उनकी आकृति ही उनमें विशेषत्व पैदा कर देती है, यद्यपि आकृतिहीन दशा में वे दोनों एक ही थे। पूर्ण सत्यस्वरूप की उच्चतम अभिव्यक्ति ही ईश्वर है अथवा दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि ईश्वर, मनुष्य बुद्धि द्वारा सर्वोच्च उपलब्धि है। जिस प्रकार सृष्टि अनादि है उसी प्रकार ईश्वर भी।

वेदान्त सूत्र के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ पाद में यह वर्णन करने के पश्चात् कि मुक्तिलाभ के अनन्तर मुक्तात्मा को कितनी अनन्त शक्ति और कितना ज्ञान प्राप्त हो जाता है, श्री व्यास देव एक दूसरे सूत्र में कहते हैं कि 'किसी को सृष्टि, स्थिति और प्रलय करने की शक्ति प्राप्त नहीं होती,' क्योंकि यह शक्ति केवल ईश्वर की ही है।[1] इस सूत्र की व्याख्या करते समय द्वैतवादी भाष्यकार के लिए यह दर्शाना सरल है कि परतंत्र जीव के लिए ईश्वर की अनन्त शक्ति और पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करना नितान्त असम्भव है। कट्टर द्वैतवादी मध्वाचार्य ने इस श्लोक की व्याख्या वराह पुराण के एक श्लोक द्वारा अपने साधारण संक्षिप्त ढंग से की है।

---

[1] जगदव्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च।

—ब्रह्मसूत्र, ४।४।१७

इसी सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार रामानुज का कथन है कि "ऐसा संशय उत्पन्न होता है कि क्या मुक्तात्मा की शक्ति में उस परम पुरुष की असाधारण शक्ति अर्थात् जगत्सृष्टि आदि एवं सर्व-नियन्तृत्व अन्तर्भूत है?—अथवा क्या उस शक्ति के अभाव में उसका ऐश्वर्य केवल उस परम पुरुष का साक्षात्कार ही है?" इस संशय के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष यह उपस्थित होता है कि चूंकि शास्त्र में (मुण्डक उपनिषद्, ३।१।३) कहा है कि शुद्धरूप होने से वह परम एकत्व लाभ करता है तथा आप्तकाम हो जाता है, इसलिए यह युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि मुक्तात्मा को जगन्नियंतृत्व प्राप्त हो जाता है। साथ ही हम यह भी जानते हैं कि परम एकत्व तथा सब वासनाओं की पूर्ति उस परम पुरुष की असाधारण शक्ति अर्थात् जग-न्नियंतृत्व के बिना नहीं हो सकती और इसलिए जब हम यह कहते हैं कि उसकी सब वासनाओं की पूर्ति हो जाती है तथा उसे परम एकत्व प्राप्त हो जाता है तो हमें यह मानना चाहिए कि उस आत्मा को जगन्नियंतृत्व की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

इस संशय के सम्बन्ध में हमारा उत्तर यह है कि मुक्तात्मा को अन्य सब शक्तियाँ अवश्य प्राप्त हो जाती हैं, परन्तु केवल जग-न्नियंतृत्व की ही शक्ति नहीं। जगन्नियंतृत्व का अर्थ है, विश्व के सब स्थावरजंगमों के रूप, उनकी स्थिति तथा वासनाओं का नियंतृत्व। परन्तु मुक्तात्माओं में यह जगन्नियंतृत्व शक्ति नहीं रहती। हाँ, उनकी परमात्मदृष्टि का आवरण अवश्य दूर हो जाता है तथा उन्हें प्रत्यक्ष

ब्रह्मानुभूति हो जाती है—बस यही उनका एकमात्र ऐश्वर्य है और इसके समर्थन में शास्त्रों का कथन है कि जगन्नियंतृत्व केवल परब्रह्म का ही गुण है, यथा—'जिससे सब की उत्पत्ति होती है, जिसमें सब की स्थिति रहती है, जिसमें सब का प्रलय होता है, तू उसी को जानने की इच्छा कर—वही ब्रह्म है।' यदि यह जगन्नियंतृत्व-शक्ति साधारण रूप से मुक्तात्मा में भी हो तो ब्रह्म का उपरोक्त लक्षण हो ही नहीं सकता, क्योंकि जगन्नियंतृत्व गुण ही उसकी विशेषता है। जो असाधारण है उसी के लक्षण विशेष रूप से बताने की आवश्यकता है। अतएव निम्नलिखित शास्त्रवाक्य इस बात की व्याख्या करते हैं कि जगन्नियमन का कर्ता परम पुरुष ही है और इस वर्णनों में इस बात का कोई उल्लेख नहीं जिससे मुक्तात्मा का जगन्नियंतृत्व स्थापित हो। शास्त्रवाक्यों का कथन है—'वत्स, सर्व प्रथम एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म ही था जिसमें इस विचार का स्फुरण हुआ कि मैं बहु सृष्टि सृजन करूँगा। फिर उसके द्वारा तेज का निर्माण हुआ।' 'आदि में केवल ब्रह्म ही था; उसी की उत्क्रांति हुई। उससे क्षत्र नामक एक सुन्दर रूप प्रकट हुआ। और वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान नामक देवता क्षत्र ही हैं।' 'पहले आत्मा ही थी; कोई वस्तु क्रियाशील नहीं थी। उसे सृष्टि-सृजन का विचार आया और तदनंतर उसने उसका निर्माण कर डाला।' 'एकमात्र नारायण ही थे, न ब्रह्मा थे, न ईशान, न द्यावा-पृथ्वी, नक्षत्र, जल, अग्नि, सोम और न सूर्य। अकेले उन्हें आनंद न आया। ध्यान के अनन्तर उन्हें दशेन्द्रियरूपी एक कन्या हुई।'

'जो पृथ्वी में वास करते हुए भी पृथ्वी से अलग रहते हैं, जो आत्मा में रहते हुए..................' इत्यादि। *

दूसरे सूत्र की व्याख्या में रामानुज का कथन है कि यदि तुम

* किं मुक्तस्यैश्वर्यं जगत्सृष्ट्यादि परमपुरुषासाधारणं सर्वेश्वरत्वमपि, उत तद्रहितं केवलपरमपुरुषानुभवविषयामिति संशयः। किं युक्तं? जगदीश्वरत्वमपीति। कुतः? 'निरंजनः परमं साम्यमुपैतीति' परमपुरुषेण परमसाम्यापत्तिश्रुतेः, सत्य-संकल्पत्वश्रुतेश्च। न हि परमसाम्यसत्यसंकल्पत्वे सर्वेश्वरासाधारण-जगद्व्यापाररूप जगन्नियमनेन विनोपपद्येते, अतः सत्यसंकल्पत्वपरमसाम्योपपत्तये समस्तजगद्-नियमनरूपमपि मुक्तैश्वर्यमित्येवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे, जगद्व्यापारवर्जमिति। जगद्व्यापारो निखिलचेतनाचेतनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिभेदनियमनं, तद्वर्जं निरस्तनिखिलतिरोधानस्य निर्व्याजब्रह्मानुभवरूपं मुक्तस्यैश्वर्यम्। कुतः? प्रकरणात्—निखिलजगन्नियमनं हि परं ब्रह्म प्रकृत्याम्नायते, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासव तद्ब्रह्मेति।' यद्येतन्निखिलजगन्नियमनं मुक्तानामपि साधारणं स्यात्, ततश्चेदं जगदीश्वरत्वरूपं ब्रह्मलक्षणं न संगच्छते; असाधारणस्य हि लक्षणत्वम्, तथा 'सदेव सोम्येदमग्र असीदेकमेवाद्वितीय, तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति, तत्तेजोऽसृजतेति' 'ब्रह्म वा इदमेकमेवाग्र आसीत्तदेकं सन्न व्यभवत्, तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं—यान्येतानि देवक्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान' इति 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किञ्चनमिषत् स ऐक्षत लोकान्नुसृजा इति स इमाँल्लोकानसृजत' इति। 'एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानो नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि नापो नाग्निर्न सोमो न सूर्यः, स एकाकी न रमेत, तस्य ध्यानान्तस्थस्यैका कन्या दशेन्द्रियाणि' इत्यादिषु। 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः' इत्यारभ्य 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यादिषु च निखिलजगन्नियमनं परमपुरुषं प्रकृत्यैव श्रूयते। असन्निहितत्वाच्च—न चैतेषु निखिलजगन्नियमनप्रसंगेषु मुक्तस्य सन्निधानमस्ति, येन जगद्-व्यापारस्तस्यापि स्यात्। —ब्रह्मसूत्र, रामानुज भाष्य, ४।४।१७

यह कहो कि ऐसा नहीं है, क्योंकि वेदों में इसका खण्डन हुआ है तो वास्तव में वेदों में उन उन स्थानों पर केवल निम्न देवलोकों के सम्बन्ध में ही मुक्तात्मा का ऐश्वर्य वर्णित है।" † यह भी एक सरल मीमांसा है। यद्यपि रामानुज समष्टि की एकता स्वीकार करते हैं तथापि उनके मतानुसार इस समष्टि में नित्य भेदसमूह हैं। अतएव कार्यतः इस मत के द्वैतभावात्मक होने से जीवात्मा तथा सगुण ईश्वर में भेद की रक्षा करना रामानुज के लिए सरल था।

अब हम देखेंगे कि इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध अद्वैतवादी का क्या कहना है। हम देखेंगे कि अद्वैत मत द्वैत मत की सब आशाओं तथा आकांक्षाओं की किस प्रकार पूर्ति करता है और फिर भी साथ ही साथ किस प्रकार ब्रह्मस्वरूप मनुष्य जाति का परमोच्च गति से सामञ्जस्य रखते हुए अपने सिद्धान्त की स्थापना करता है। जो व्यक्ति मुक्तिलाभ के अनन्तर भी अपने व्यक्तित्व की रक्षा की इच्छा रखते हैं, तथा भगवान से स्वतंत्र रहने के इच्छुक हैं, उन्हें इस बात का यथेष्ट अवसर मिलेगा कि वे अपनी आकांक्षा को चरितार्थ कर सकें तथा सगुण ब्रह्म के साक्षात्कार का आनन्द उठा सकें।

इन्हीं के बारे में भागवत पुराण का कथन है, "हे राजन्, प्रभु के ऐसे गुण हैं कि सारे मुनिगण जो आत्मा में ही रमण करने,

---

† "प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमंडलस्थोक्तेः।"

इस सूत्र का (ब्रह्मसूत्र ४।४।१८) रामानुज भाष्य देखिए।

वाले हैं तथा जिनके सब बन्धन छूट गये हैं, उनकी भी भगवान के प्रति अहैतुकी भक्ति होती है।†

सांख्य इनको प्रकृतिलीन कहते है; सिद्धि-लाभ के अनन्तर ये ही दूसरे कल्प में अनेक जगतों के शासनकर्ता के रूप में प्रकट होते है। किन्तु इनमें से कोई भी कभी ईश्वर तुल्य नहीं हो पाता। जो ऐसी अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जहाँ न सृष्टि है, न सृष्ट, न स्रष्टा, जहाँ न ज्ञाता है, न ज्ञान और न ज्ञेय, जहाँ न 'मैं' है, न 'तुम' और न 'वह', जहाँ न प्रमाता है, न प्रमेय और न प्रमाण, 'जहाँ कौन किसको देखता है'—वे पुरुष सब से अतीत होकर वहीं पहुँच जाते हैं जहाँ 'न शब्द पहुँच सकते हैं, न मन'* और जिसे श्रुति 'नेति', 'नेति' कहकर पुकारती है; परन्तु जो इस अवस्था का लाभ नहीं कर सकते अथवा जो इसकी इच्छा नहीं करते, वे अविभक्त ब्रह्म को प्रकृति, आत्मा और इन दोनों में अन्तर्यामी ईश्वर—इस त्रिधा-विभक्त रूप में देखते हैं। इस प्रकार, जब प्रह्लाद को अपना विस्मरण हो गया तो उनके लिए न तो सृष्टि रही और न उसका कारण; रह गया केवल नाम-रूप से अविभक्त एक अनन्त तत्त्व। परन्तु ज्योंही उन्हें यह बोध हुआ कि मै प्रह्लाद हूँ त्योंही उनके सम्मुख सृष्टि थी तथा नितान्त कल्याणमय सर्वगुणसम्पन्न सृष्टिकर्ता।

† आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रंथा अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिं इत्थंभूतगुणो हरिः।
—श्रीमद्भागवत, १।७।१०

यही अवस्था बड़भागी गोपियों की भी थी। जब तक वे अपने व्यक्तित्व अथवा 'अहं' के ज्ञान से रिक्त रहती थीं तब तक वे स्वयं कृष्ण-रूप में परिणत हो जाती थीं। पर ज्योंही वे श्रीकृष्ण को उपास्य-रूप में भेद-भाव से देखने लगती थीं त्योंही वे गोपिकाएँ हो जाती थीं—"उनके सम्मुख पीताम्बरधारी माल्यविभूषित साक्षात् मन्मथ के भी मन को मथने वाले भगवान् श्रीकृष्ण अपने कमलमुख मुस्कराहट के साथ प्रकट हो जाते थे!" *

अब हम देखेंगे कि इस सम्बन्ध में श्रीशंकराचार्यजी का क्या कथन है। उनका एक प्रश्न यह है, "जो सगुण ब्रह्मोपासना के बल से परमेश्वर के साथ एक हो जाते हैं तथा जिनका मन अव्याहत रहता है उन लोगों का ऐश्वर्य असीम होता है अथवा सीमाबद्ध? इस संशय के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष इस प्रकार हो सकता है कि उनका ऐश्वर्य असीम है, क्योंकि शास्त्रों का कथन है कि, 'उन्हें स्वराज्य प्राप्त हो जाता है,' 'सब देवता उनकी उपासना करते हैं,' 'सब लोकों में उनकी सम्पूर्ण इच्छाओं की पूर्ति होती है।' इसके उत्तर में व्यास जी का कथन है, 'हाँ, केवल सृष्टि-सृजन की शक्ति ही नहीं रहती है।' मुक्तात्मा को सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय के अतिरिक्त अणिमादि सब शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। रहा जगत् का नियन्तृत्व, वह

* तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षात मन्मथमन्मथः॥

—श्रीमद्भागवत, १०।३२।२

केवल नित्य सिद्ध ईश्वर का ही होता है। कारण यह है कि सृष्टि आदि के सम्बन्ध में शास्त्रों में केवल उसी का वर्णन है, न कि मुक्तात्माओं का। जगत् के परिचालन में केवल उसी परम पिता परमेश्वर का हाथ है। सृष्टि आदि के सम्बन्ध में शास्त्र उसी को लक्ष्य मानकर वर्णन करते हैं। 'नित्यसिद्ध' विशेषण भी उसी को दिया गया है। शास्त्र यह भी कहते हैं कि अन्य जनों की अणिमादि शक्तियाँ, उसकी उपासना तथा उसका अन्वेषण करने से ही प्राप्त होती हैं। अतएव, जगन्नियंतृत्व में आत्माओं का कोई स्थान नहीं। फिर उनके अपने अपने मन का अस्तित्व होने के कारण यह सम्भव है कि उनकी इच्छाएँ भिन्न भिन्न प्रकार की हों; यदि एक सृष्टि की इच्छा करता है तो दूसरा विनाश की। यह द्वन्द्व मिटाने का एक मात्र उपाय यही है कि सब आत्माओं की इच्छाएँ एक इच्छा के अधीन हो जायँ। अतः सिद्धान्त यह निकला कि मुक्तात्माओं की इच्छाएँ केवल एक परम पुरुष की इच्छा के अधीन हैं।" *

* ये सगुणब्रह्मोपासनात् सहैव मनसा ईश्वरसायुज्यं व्रजन्ति, किन्तेषां निरवग्रहमैश्वर्यं भवत्याहोस्वित् सावग्रहमिति संशयः। किन्तावत् प्राप्तम्? निरंकुशमेवेषामैश्वर्यं भवितुमर्हति, 'आप्नोति स्वाराज्यं', 'सर्वेऽस्मै देवा बलिमाहरन्ति' 'तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इत्यादि श्रुतिभ्यः इत्येवं प्राप्ते पठति—जगद्व्यापारवर्जमिति। जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वान्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति। जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैवेश्वरस्य। कुतः? तस्य तत्र प्रकृतत्वादसन्निहितत्वाच्चेतरेषाम्। पर एव हीश्वरो जगद्व्यापारेऽधिकृतः, तमेव प्रकृत्योत्पत्त्याद्युपदेशान्नित्यशब्दनिबन्धनत्वाच्च। तदन्वेषणविजिज्ञासनपूर्वकमितरेषामादिमदैश्वर्यं

इस प्रकार भक्ति केवल सगुण ब्रह्म के प्रति लगाई जा सकती है। "देहाभिमानियों को अव्यक्त विषयक गति कठिनता से प्राप्त होती है।" † हमारी प्रकृति के स्त्रोत के साथ सामञ्जस्य सहित भक्ति का प्रवाह होना चाहिए। यह सत्य है कि ब्रह्म के मानवीय भाव के अतिरिक्त हम कोई दूसरी धारणा नहीं कर सकते। परन्तु प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में भी जिसे कि हम जानते हैं क्या यह सत्य नहीं है? संसार के सर्वश्रेष्ठ मनोवैज्ञानिक भगवान कपिल ने सदियों पहले यह दर्शा दिया था कि हमारे बाह्य तथा आन्तरिक सारे विषयज्ञानों तथा धारणाओं में एक उपादान मानवी ज्ञान है। अपने शरीर से लेकर ईश्वर तक यदि हम विचार करें तो प्रतीत होगा कि हमारे अनुभव की प्रत्येक वस्तु यह ज्ञान है तथा इससे मिश्रित एक दूसरी वस्तु, वह चाहे कुछ भी हो और इसी अवश्यम्भावी मिश्रण को हम बहुधा 'सत्य' मानते हैं। वास्तव में वर्तमान तथा भविष्य में मनुष्य के मन को सत्य का ज्ञान जितना हो सकता है वह इतना ही है, तथा इतना ही रहेगा। इसलिए यह

श्रूयते। तेनासन्निहितास्ते जगद्व्यापारे। समनस्कत्वादेव चैषामनेकमत्ये कस्यचित् स्थित्यभिप्रायः कस्यचित् संहाराभिप्रायः इत्येवं विरोधोऽपि कदाचित् स्यात्। अथ कस्यचित् संकल्पमन्वन्यस्य संकल्प इत्यविरोधः समर्थ्येत। ततः परमेश्वराकूततंत्रत्वमेवेतरेषामिति व्यवतिष्ठन्ते।

—ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य, ४।४।१७

† अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।

—भगवद्गीता, १२।५

कहना कि ईश्वर मानवधर्मक होने से असत्य है, नितान्त मूर्खता है। यह बहुत कुछ पाश्चात्य विज्ञानवाद (Idealism) तथा सर्वास्तित्व-वाद (Realism) के पारस्परिक विवाद के सदृश है। इस ओर विवाद का आधार केवल 'सत्य' शब्द की विवेचना है। 'सत्य' शब्द द्वारा जितने भाव प्रकट होते हैं वे सब 'ईश्वरभाव' में अन्तर्हित हैं और ईश्वर उतना ही सत्य है जितनी विश्व की कोई अन्य वस्तु। वास्तव में, जो दर्शाया गया है, इससे अधिक 'सत्य' शब्द का अर्थ और कुछ नहीं है। यही हमारी ईश्वर सम्बन्धी दार्शनिक धारणा है।

---

३. भक्तियोग का ध्येय—प्रत्यक्षानुभूति

भक्त के लिए यह शुद्ध विवेचना उसकी इच्छा-शक्ति को दृढ़ करने के लिए ही है; इसके अतिरिक्त इसका कोई दूसरा प्रयोजन नहीं; कारण यह है कि वह एक ऐसे पथ पर अग्रसर हो रहा है जो शीघ्र ही उसे युक्ति के धुंधले तथा द्वन्द्वमय क्षेत्र से परे ले जाकर प्रत्यक्षानुभूति के राज्य में ले जायगा। परमेश्वर की कृपा से शीघ्र ही वह एक ऐसे क्षेत्र में पहुँच जाता है जहाँ शुष्क पाडिण्त्य की क्षमतारहित युक्ति बहुत पीछे छुट जाती है और जहाँ कोरी बुद्धि द्वारा अँधेरे की टटोलबाजी के स्थान में प्रत्यक्षानुभूति का उज्ज्वल प्रकाश आ जाता है। फिर वह विचार या विश्वास नहीं करता वरन् एक प्रकार का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। वह वाद-विवाद में नहीं पड़ता वरन् स्वयं अनुभव कर लेता है। और क्या यही परमेश्वर का साक्षात्कार, उसकी उपलब्धि तथा उसका उपभोग अन्यान्य विषयों से कहीं श्रेष्ठ नहीं है? इतना ही नहीं बल्कि कई भक्तों ने यह भी कहा है कि ऐसी भक्ति मुक्ति से भी श्रेष्ठ है। क्या यही हमारे जीवन में सब से अधिक उपयोगी चीज नहीं है? संसार में ऐसे बहुत लोग हैं जिनकी धारणा है कि केवल वही चीज उपयोगी है जिससे मनुष्य को पाशविक सुख प्राप्त होते हैं; यहाँ तक कि धर्म, ईश्वर, अनन्तता, आत्मा आदि भी उनके लिए किसी प्रयोजन के नहीं, क्योंकि उन्हें उनसे धन तथा शारीरिक सुख प्राप्त नहीं होते! उनके लिए ऐसी सारी वस्तुएँ जो इन्द्रियों तथा

वासनाओं को तृप्त नहीं करतीं किसी काम की नहीं। जिस मनुष्य को जिस वस्तु की आवश्यकता होती है उसे वही उपयोगी प्रतीत होती है। अतः उन लोगों के लिए जो खाने, पीने, मैथुन तथा मृत्यु आदि में ही पड़े रहते हैं, केवल इन्द्रिय-सुख ही एक लाभ है! और ऐसे लोगों को इस बात के लिए अनेक बार जन्म लेना पड़ेगा जब कि उनके हृदय में किसी उच्च विषय के लिए थोड़ी भी व्याकुलता उत्पन्न हो सकेगी। लेकिन उन लोगों के लिए जिन्हें आत्मोन्नति के साधन ऐहिक जीवन के क्षणिक सुखों से अधिक महत्व-पूर्ण है तथा जिनकी दृष्टि में इन्द्रियों की तृप्ति एक अबोध बालक के खिलवाड़ मात्र के सदृश है, ईश्वर तथा ईश्वरप्रेम मानव जीवन का सर्वोच्च एवं एक मात्र प्रयोजन है। ईश्वर को धन्यवाद है कि इस घोर लिप्सापूर्ण जगत् में अब भी कुछ इस प्रकार के महात्मा हैं।

जैसा पहले कहा जा चुका है भक्ति दो प्रकार की होती है, 'गौणी' तथा 'परा'। 'गौणी' का अर्थ साधन-भक्ति है और 'परा' इसी की परिपक्कावस्था है। क्रमशः हम देखेंगे कि साधनावस्था में अग्रसर होने के लिए हमें कितने बाह्य साधनों की आवश्यकता पड़ती है। और वास्तव में सब धर्मों के पौराणिक तथा रूपक भाग स्वयं आ जाते हैं तथा ये साधक की आत्मा पर आरम्भिक अवस्था में अपना प्रभाव डालकर उसे परमेश्वर की ओर अग्रसर होने में सहायता पहुँचाते हैं। और यह भी एक विशेष बात है कि बड़े बड़े धर्मात्मा उन्हीं धर्मसम्प्रदायों में हुए हैं जिनमें पौराणिक भावों तथा अनुष्ठानों

की प्रचुरता है। वे शुष्क द्वेषयुक्त धर्मप्रणालियाँ जो इस बात का यत्न करती हैं कि जो कुछ कवित्वमय, सुन्दर एवं महान् है तथा जो कुछ भगवद्भक्ति-मार्ग में गिरते पड़ते अग्रसर होने वाले सुकुमार मन के लिए अवलम्बन स्वरूप है, उसे नष्ट कर डालें। वे धर्मप्रणालियाँ जो इस बात का यत्न करती हैं कि धर्म-प्रासाद के आधार स्वरूप स्तम्भ ही नष्ट हो जाएँ—जो सत्य सम्बन्धी अज्ञान एवं भ्रमपूर्ण धारणावश इस बात का यत्न करती है कि जो कुछ जीवन के लिए संजीवनी स्वरूप है तथा जो कुछ मानवात्मा रूपी क्षेत्र में बढ़ती हुई धर्म-रूपी लतिका के लिए पालक एवं पोषक है वह नष्ट हो जाय—उन धर्मप्रणालियों को यह शीघ्र अनुभव हो जाता है कि उनमें जो कुछ रह गया है वह केवल खोखलापन है और वे स्वयं केवल अनन्त शब्दराशि तथा कोरे तर्कवितर्क का एक स्तूप मात्र हैं, जिनमें सामाजिक गंदगी को साफ करने एवं तथाकथित समाजसुधार की केवल थोड़ी सी गंध अवशेष है। जिन लोगों का धर्म इस प्रकार का है उनमें से अधिकतर जानते या न जानते हुए जड़वादी हैं और उन लोगों का ऐहिक तथा पारलौकिक जीवन-ध्येय केवल भोग ही है और यही उनकी दृष्टि में जीवन का सार तथा इष्टापूर्त है। इन लोगों की दृष्टि में मानुषिक जीवन के इन्द्रियजन्य सुखों के निमित्त ऊपरी सुधार ही सब कुछ है। इस अज्ञान एवं धर्मद्वेष के विचित्र संमिश्रण के अनुयायियों का जितना शीघ्र ही खुलाव खुल जाय उतना ही अच्छा है और अपने को वे जितनी जल्दी नास्तिक एंव जड़वादी घोषित कर दें, जैसा करना उनके लिए उचित ही है, उतना ही संसार के लिए हितप्रद है। लगन

से किये हुए धर्मानुष्ठान तथा आत्मानुभूति का एक अंश भी ढेरों कोरे ज्ञान छाटने तथा हठयुक्त निरर्थक भावोच्छ्वास से कहीं बढ़कर है। हम तो कहते हैं कि इस अज्ञान तथा धर्मद्वेष रूपी शुष्क क्षेत्र से बढ़ा हुआ हमें कहीं एक भी तेजस्वी धर्मवीर दिखा दीजिए और यदि ऐसा नहीं कर सकते तो चुप रहिए तथा अपने हृदय के द्वार खोलिए जिससे उसमें सत्य का शुद्ध प्रकाश आए। बच्चों के सदृश भारतवर्ष के उन महात्माओं के चरणों की शरण में जाइए जिन्हें इस बात का ज्ञान है कि वे क्या कह रहे हैं, और फिर आइए हम सब ध्यानपूर्वक सुनें कि वे क्या कहते हैं।

---

४. गुरु की आवश्यकता

प्रत्येक जीवात्मा का पूर्णत्व प्राप्त करना निर्धारित ही है और अन्त में प्रत्येक जीव अवश्य पूर्णावस्था को प्राप्त होगा। हम आज जो कुछ हैं वह हमारे पूर्व कर्मों तथा विचारों का फल है और हम जो कुछ भविष्य में होंगे वह हमारे अभी के कर्मों तथा विचारों का फल होगा। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि अपने भाग्य-निर्माण के लिए हम बाहरी सहायता नहीं ले सकते। बल्कि अधिकतर ऐसी सहायता की बड़ी ज़रूरत होती है। जब ऐसी सहायता प्राप्त होती है तो आत्मा की उच्च शक्ति तथा अव्यक्त भाव स्फुरित हो उठते हैं, आध्यात्मिक जीवन जागृत हो उठता है, उसकी उन्नति शीघ्र ही होती है तथा अन्त में साधक शुद्ध तथा सिद्ध हो जाता है।

यह संजीवनी शक्ति पुस्तकों के पढ़ने से नहीं आती। जीवात्मा इस शक्ति को तो किसी दूसरे जीवात्मा से ही ले सकता है, किसी अन्य चीज़ से नहीं। हम जीवन पर्यन्त पुस्तकों का अध्ययन भले ही करते रहें और कितने ही बुद्धिमान क्यों न हो जायँ, परन्तु अन्त में हम यही देखते हैं कि आध्यात्मिक दृष्टि से हमारी किंचित् मात्र भी उन्नति नहीं हुई। और यह बात ग़लत है कि बुद्धि की कुशाग्रता होने से आध्यात्मिक जागृति अवश्य होगी। पुस्तकों के अध्ययन से हमें कभी कभी यह भ्रम हो जाता है कि इससे हमें आध्यात्मिक मार्ग में सहायता मिल रही है। किन्तु यदि हम इस

बात की मीमांसा करें कि पुस्तकों के पढ़ने से हमें स्वयं को क्या लाभ होता है, तो प्रतीत होगा कि इस अध्ययन से यदि अधिक से अधिक लाभ हुआ है तो वह केवल हमारी बुद्धि को ही, न कि हमारी अन्तरात्मा को। बहुधा हम सब लोग आध्यात्मिक विषयों पर खूब बातचीत कर सकते हैं, परन्तु जब इस बात का अवसर आता है कि हम वास्तविक आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करें तो हम अपने को सर्वथा अयोग्य पाते हैं; इसका कारण यही है कि हमारी पुस्तकें जिन्हें हम पढ़ते रहते हैं हममें आध्यात्मिकता जागृत करने में समर्थ नहीं हैं। इस प्रकार की शक्ति जागृत करने के लिए किसी दूसरी आत्मा से ही शक्ति का सञ्चार होना चाहिए।

जिस पुरुष की आत्मा से ऐसा सञ्चार होता है वह गुरु कहलाता है और जिस व्यक्ति की आत्मा में सञ्चार होता है वह शिष्य कहलाता है। पहले तो यह आवश्यक है कि जिस आत्मा से इस प्रकार का सञ्चार हो उसमें स्वयं इस सञ्चार की शक्ति मौजूद हो और दूसरी बात यह है कि जिस आत्मा में यह शक्ति सञ्चारित की जाय वह इसे ग्रहण करने योग्य हो। बीज का सतेज होना आवश्यक है तथा भूमि भी अच्छी बनी हुई तैयार होनी चाहिए और जब ये दोनों बातें विद्यमान होंगी तो प्रकृत धर्म का अपूर्व विकास अवश्य होगा। 'धर्म-गुरु में भी अपूर्व योग्यता की आवश्यकता है और उसके शिष्य को भी कुशल होना चाहिए,' † और जब ये दोनों वास्तव में असाधारण

† 'आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा' इत्यादि —कठोपनिषद्, १।२।७

होंगे तभी सुन्दर आध्यात्मिक जागृति हो सकेगी, अन्यथा नहीं। ऐसे ही पुरुष वास्तव में सच्चे गुरु होते हैं और ऐसे ही व्यक्ति आदर्श शिष्य तथा साधक कहे जाते हैं। अन्य सब लोग तो बस आध्यात्मिकता से खिलवाड़ करते हैं। इनमें केवल कुछ कौतूहल तथा किंचित् जिज्ञासा जागृत हो जाती है, परन्तु ये केवल धर्म की हद पर ही रहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस बात का भी थोड़ा महत्व अवश्य है, क्योंकि यह सम्भव है कि कुछ समय के बाद यही भाव शुद्ध धर्म-पिपासा में परिवर्तित हो जाय। और यह प्रकृति का आश्चर्यजनक नियम है भी कि भूमि के तैयार हो जाने पर बीज को अवश्य आना ही चाहिए और वह आ भी जाता है। इसी प्रकार आत्मा को जब धर्मोपलब्धि की प्रबल इच्छा होती है तो धर्मशक्ति-सञ्चारक पुरुष का वहाँ प्रकट होना आवश्यक होता है और उस आत्मा के सहायतार्थ वह अवश्य प्रकट भी हो जाता है। जब सञ्चारित आत्मा में धर्म-प्रकाश की आकर्षणशक्ति पूर्ण तथा प्रबल हो जाती है तो इस आकर्षण से आकृष्ट प्रकाशदायिनी शक्ति स्वयं ही आ जाती है।

परन्तु इस मार्ग में कुछ बातों से सतर्क भी रहना चाहिए। उदाहरणार्थ, इस बात का डर है कि सञ्चारित आत्मा क्षणिक भावावेश को वास्तविक धर्मपिपासा समझ बैठे। यह बात हम बहुधा स्वयं में ही देख सकते हैं; हमारे जीवनकाल में बहुधा ऐसा होता है कि हमारे एक अत्यन्त प्रिय व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है; उस समय हमें धक्का लगता है और हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जो कुछ हमें

वांछित है वही हमसे छिना जा रहा है, हमें किसी दृढ़तर तथा उच्चतर आश्रय की आवश्यकता है तथा अब हमें अवश्य धार्मिक हो जाना चाहिए। कुछ दिनों के उपरान्त वह भावतरंग नष्ट हो जाती है और हम वहीं रह जाते हैं जहाँ पहले थे। हम सब बहुधा ऐसी तरगों को वास्तविक धर्मपिपासा मान लेते हैं और जब तक हम उन क्षणिक आवेशों के धोखे में रहेंगे तब तक धर्म के लिए सच्ची तथा स्थायी व्याकुलता नहीं आएगी तथा उस समय तक हमें ऐसे पुरुष का दर्शन नहीं होगा जो हममें धर्म-सञ्चार कर सके। इसलिए जब कभी हम इस बात की शिकायत करते हैं कि हमारी परम वांछित सत्य की खोज व्यर्थ गई तो इस प्रकार की शिकायत करने के पहले हमारा यह कर्तव्य होना चाहिए कि हम अपने भीतरी मन का अन्वेषण करें और इस बात का पता लगाएँ कि हमारे हृदय की आकांक्षा वास्तविक सत्य है या नहीं। ऐसा करने से अधिकतर यह पता चलेगा कि हम सत्य ग्रहण करने योग्य नहीं थे और न हमारे हृदय में सच्ची धर्मपिपासा ही थी।

शक्तिसञ्चारक गुरु के सम्बन्ध में सतर्क होने के लिए और भी कई बातें हैं। बहुत से लोग ऐसे होते हैं जो स्वयं होते तो बड़े अज्ञानी हैं परन्तु फिर भी अहंकारवश अपने को सर्वज्ञ मानते हैं; इतना ही नहीं बल्कि दूसरों का भार भी अपने कंधों पर लेने को तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार अन्धा अन्धे का अगुआ बन दोनों गड्ढे में गिरते हैं। "मूर्ख लोग तो अन्धकार में रहते ही है, परन्तु

स्वयं को बड़ा बुद्धिमान मानते हैं और इस प्रकार अहंभाव के वशीभूत होकर इधर उधर इसी प्रकार ठोकर खाते घूमते हैं जैसे एक अन्धा एक दूसरे अन्धे को अगुआता हुआ जाता है।" * संसार में ऐसे लोग भरे पड़े हैं। हरएक आदमी गुरु होना चाहता है। एक भिखारी भी चाहता है कि वह लाखों का दान कर डाले! जैसे हास्यास्पद ये भिखारी हैं वैसे ही ये गुरु!

---

* अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढ़ाः।
अन्धेनैव नीयमानाः यथान्धाः॥ —मुण्डकोपनिषद्, १।२।८

५. गुरु तथा शिष्य के लक्षण

गुरु की पहचान क्या है? सूर्य को प्रकाश में लाने के लिए मशाल की आवश्यकता नहीं होती और न उसे देखने के लिए यही जरूरी है कि हम दीपक जलाएँ। जब सूर्योदय होता है, तो हम स्वयं ही जान जाते हैं। इसी प्रकार जब हमारी सहायता के लिए गुरु का आगमन होता है तो आत्मा को यह ज्ञान स्वयं हो जाता है कि उसके ऊपर सत्य प्रकाशमान होने लगा है। सत्य स्वयं ही प्रमाण है; इसे किसी दूसरे साक्षी की आवश्यकता नहीं। यह स्वयं-प्रकाशमान है। हमारी प्रकृति के अन्तस्तल तक यह प्रवेश कर जाता है और उसके अस्तित्व को समस्त संसार यह कहकर घोषित करता है कि "यह सत्य है।" जिन गुरुजनों के हृदय में सत्य और ज्ञान सूर्य के समान देदीप्यमान होता है वे संसार भर में सब से बड़े हैं और अधिकांश मानव-जाति द्वारा उनकी उपासना ईश्वर के समान होती है। परन्तु उनकी अपेक्षा हम छोटे गुरुजनों से भी सहायता ले सकते हैं। बात केवल इतनी ही है कि हममें स्वयं वह अन्तर्दृष्टि नहीं होती जिससे हम गुरु के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकें। अतएव यह आवश्यक है कि जैसा नियंत्रण शिष्य के सम्बन्ध में है वैसी ही कुछ परख तथा शर्त गुरु के सम्बन्ध में भी होनी चाहिए।

शिष्य के लिए यह आवश्यक है कि उसमें शुद्धता, सत्य-ज्ञान-पिपासा तथा अध्यवसाय हो। अशुद्ध आत्मा कभी वास्तविक रूप से धार्मिक नहीं हो सकता। धार्मिक होने के लिए मन, वचन और कर्म की शुद्धता नितान्त आवश्यक है। रहा ज्ञान-पिपासा के सम्बन्ध में, तो यह एक सनातन सत्य है कि हम जिस किसी बात की इच्छा करते हैं वह हमें प्राप्त हो ही जाती है। जिस वस्तु के लिए हम अन्तःकरण से इच्छा नहीं करते हैं वह हमें प्राप्त नहीं होती। धर्म के लिए वास्तविक व्याकुलता होना बड़ी कठिन बात है, यह इतना सरल नहीं जितना कि हम बहुधा अनुमान करते हैं। धार्मिक चर्चा का सुनना तथा धार्मिक पुस्तकों का पढ़ना ही हृदय में वास्तविक रूप से धर्म की प्रबलता का प्रमाण नहीं है। जब तक हमारे हृदय में धर्म के लिए व्याकुलता उत्पन्न न हो जाय तथा जब तक हम अपनी प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त न कर लें तब तक हमें सतत अभ्यास तथा अपनी पाशविक प्रवृत्ति से निरन्तर संग्राम करना चाहिए। यह प्रश्न एक या दो दिनों का नहीं है और न वर्षों तथा जन्मों का है; सम्भव है कि यह संग्राम सैकड़ों जन्म तक चलता रहे। अथवा यह भी हो सकता है कि सिद्धि कभी एकदम ही प्राप्त हो जाय, परन्तु यदि कभी उसकी प्राप्ति के लिए अनन्त काल तक की प्रतीक्षा दिख पड़े तो भी हमें धैर्य रखना चाहिए। जो साधक इस प्रकार अध्यवसाय के साथ साधना करने को प्रवृत्त होता है, उसे अन्त में सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है।

गुरु के सम्बन्ध में हमें यह अवश्य जान लेना चाहिए कि उसे शास्त्रों का केन्द्रीय भाव अवश्य ज्ञात हो। वैसे तो सारा संसार ही बाइबिल, वेद तथा कुरान पढ़ता है; परन्तु वे केवल शब्द मात्र पढ़ते हैं जिन्हें हम धर्म का शुष्क अस्थि-पंजर कह सकते हैं। जो गुरु शब्दाडम्बर के चक्कर में पड़ते हैं तथा जिनका मन शब्दों की शक्ति से भ्रमित हो जाता है, वे केन्द्रीय भाव को खो देते हैं, पर जो शास्त्रों के वास्तविक मर्मज्ञ हैं वे ही असल में सच्चे धार्मिक गुरु हैं। शास्त्रों का शब्दजाल एक सघन बन के सदृश है जिसमें मनुष्य का मन बहुधा फँस जाता है और फिर बाहर नहीं निकल पाता। "शब्दजाल एक बड़े बन के सदृश है और इसी के कारण उसमें चित्त भ्रमण करता रहता है।" † "विभिन्न प्रकार की शब्दयोजना, सुन्दर भाषा द्वारा वक्तृता के अनेक ढंग तथा शास्त्र-मर्म की व्याख्या करने के भिन्न भिन्न उपाय पण्डित लोगों के केवल शाब्दिक सुख के लिए ही हैं; इनमें अन्तर्दृष्टि का विकास नहीं होता!" * जो पुरुष दूसरे लोगों में धर्मप्रचार के लिए इन साधनों का अनुसरण करते हैं, वे केवल यह दिखाना चाहते हैं कि वे बड़े पण्डित हैं तथा उनकी इच्छा यही रहती है कि संसार उन्हें बहुत बड़ा विद्वान मानकर उनका सम्मान करे। तुम यह देखोगे कि संसार के प्रधान आचार्यों में से कभी कोई शास्त्रों

---

† शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम्। —विवेकचूडामणि, ६२ श्लो०

* वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये।—विवेकचूडामणि, ६० श्लो०

की इस प्रकार की व्याख्या में नहीं पड़ा, न उन्होंने उनकी यथेच्छ व्याख्या करने की चेष्टा की और न वे शब्दार्थ तथा धात्वर्थ के चक्कर में ही पड़े; फिर भी उन्होंने संसार को बड़ी सुन्दर शिक्षा दी। इसके विपरीत उन लोगों ने जिनके पास सिखाने को कुछ भी नहीं था, कभी एक शब्द को ही पकड़ लिया और उस शब्द की उत्पत्ति पर तीन भागों की एक मोटी पुस्तक लिख डाली जिसमें उन्होंने इस प्रकार के व्यर्थ विषयों का ही वर्णन किया कि उस शब्द का सर्व प्रथम उपयोग किस मनुष्य ने किया था, वह मनुष्य क्या खाता था, वह कितनी देर खाता था आदि आदि!

भगवान् श्रीरामकृष्ण एक कथा कहा करते थे—वे कहते थे कि एक बार कुछ लोग एक आम के बगीचे में गए। वहाँ वे पेड़ों की पत्तियाँ टहनी और डालों के गिनने, उनके रंग की परीक्षा तथा उनके आकार की तुलना करने एवं प्रत्येक चीज़ का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने में लग गये। उसके बाद उनमें आपस में इन विषयों पर बड़ा वादविवाद भी हुआ, जिससे उनका बड़ा मनोरंजन हुआ। लेकिन उनमें एक ऐसा आदमी भी था जो औरों की अपेक्षा ज्यादा समझदार था। उसने इन बातों की परवाह नहीं की और बजाय यह सब करने के, मज़े से आम खाने लगा। क्या वह सचमुच में बुद्धिमान नहीं था? अतएव, यह पत्तियों, टहनियों का गिनना तथा पर-निरीक्षण छोड़ दो। हाँ, इस प्रकार के कार्य की उपयोगिता है अवश्य, परन्तु यहाँ आध्यात्मिक

क्षेत्र में नहीं। इन 'पत्तियों के गिनने वालों' में तुम एक भी आध्यात्मिक महापुरुष कभी नहीं पाओगे। धर्म के लिए, जो मनुष्यजीवन का सर्वोच्च लक्ष्य तथा गौरव है, इस 'पत्तियों के गिनने' के श्रम की आवश्यकता नहीं। यदि तुम भक्त होने के इच्छुक हो तो तुम्हारे लिए यह जानना आवश्यक नहीं है कि भगवान् श्रीकृष्ण मथुरा में हुए थे अथवा व्रज में, वे क्या करते थे तथा जब उन्होंने गीता का बोध कराया तो ठीक ठीक तिथि क्या थी। तुम्हारे लिए आवश्यक यही है कि गीता में दी हुई कर्तव्य तथा प्रेम सम्बन्धी सुन्दर शिक्षा का अन्तःकरण से अनुसरण करो। इसके तथा इसके प्रणेता के सम्बन्ध में अन्य सब विचार केवल विद्वानों के आमोद के लिए ही हैं। उन्हें जो कुछ इच्छित है वह लें। उनके पाण्डित्य तथा तर्क-वितर्क पर हम केवल शान्तिः शान्तिः कहें और हम अपने 'आम खाते रहें'।

दूसरी बात जो गुरु के लिए आवश्यक है वह यह है कि उन्हें निष्पाप होना चाहिए। बहुधा यह प्रश्न पूछा जाता है कि हम गुरु के चरित्र तथा व्यक्तित्व की ओर ध्यान ही क्यों दें? हमें तो जो कुछ वह कहते हैं वही सुनना तथा ग्रहण करना चाहिए। परन्तु यह बात ठीक नहीं। यदि एक मनुष्य हमें गति-विज्ञान (Dynamics), रसायनशास्त्र अथवा अन्य कोई भौतिक विज्ञान सिखाना चाहता है, तो वह चाहे जैसा भी हो सकता है, क्योंकि इन विषयों के लिए केवल बुद्धि की ही आवश्यकता है; परन्तु आध्यात्मिक

विषयों के सम्बन्ध में आरम्भिक दशा से लेकर अन्त तक यह नितान्त असम्भव है कि किसी ऐसी आत्मा में आध्यात्मिक प्रकाश प्रकट हो सके जो स्वयं अशुद्ध है। एक अशुद्ध-चित्त-व्यक्ति हमें क्या धर्म सिखा सकता है? अपने तईं आध्यात्मिक सत्य उपलब्धि करने तथा दूसरों में उसका सञ्चार करने का रहस्य स्वयं के हृदय तथा मन की पवित्रता है। जब तक चित्तशुद्धि नहीं होती तब तक भगवद्दर्शन अथवा उस अतीन्द्रिय सत्ता का भास भी नहीं होता। अतएव गुरु के सम्बन्ध में हमें पहले यह जान लेना चाहिए कि उसका चरित्र कैसा है; और तब फिर देखना चाहिये कि वह क्या कहता है। उसे सम्पूर्ण रूप से शुद्ध-चित्त होना चाहिए और तभी उसके शब्दों का मूल्य होगा, क्योंकि केवल उसी दशा में वह सच्चा सञ्चारक हो सकता है। यदि स्वयं उसमें आध्यात्मिक शक्ति नहीं है तो वह सञ्चार ही क्या करेगा? उसका मन प्रबल आध्यात्मिक स्पन्दन-युक्त होना चाहिए जिससे वह उसी गति से उस विषय का सञ्चार भी शिष्य के मन में कर सके। वास्तव में गुरु का काम यह है कि वह आध्यात्मिक शक्ति का सञ्चार करे, न कि यह कि शिष्य की बुद्धि-शक्ति अथवा अन्य किसी शक्ति को उत्तेजित मात्र करे। यदि सच पूछा जाय तो गुरु से प्रभाव के रूप में कुछ समुचित तथा सत्य शक्ति शिष्य में आती है; अतः गुरु को अत्यन्त पवित्र होना चाहिये।

गुरु के बारे में तीसरी बात उसके उद्देश के सम्बन्ध में है। गुरु को धन, नाम, यश सम्बन्धी स्वार्थसिद्धि की दृष्टि से धर्म-शिक्षा

नहीं देनी चाहिए। उसका कार्य समस्त मनुष्य जाति के प्रति शुद्ध प्रेम के निमित्त ही होना चाहिए। आध्यात्मिक शक्ति शुद्ध प्रेम द्वारा ही सञ्चारित की जा सकती है। किसी प्रकार का स्वार्थपूर्ण भाव, जैसे कि लाभ अथवा यश की इच्छा, फौरन ही इस प्रेम को नष्ट कर देगा। ईश्वर प्रेमस्वरूप है और केवल वही जिसे ईश्वर के प्रेमस्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान हो गया है, मनुष्य को शुद्ध सत्त्व होने तथा ईश्वरत्व के ज्ञान की शिक्षा दे सकता है।

यदि तुम्हें यह प्रतीत हो जाय कि तुम्हारे गुरु में ये सब लक्षण मौजूद हैं तो फिर तुम्हें कोई आशंका नहीं है। परन्तु यदि वे सब नहीं हैं तो तुम्हें उनसे शिक्षा ग्रहण करना ठीक नहीं; क्योंकि इस बात का बहुत बड़ा भय है कि यदि वे तुम्हारे हृदय में साधु भाव का सञ्चार नहीं कर सकते तो असाधु भाव का सञ्चार कर देंगे। इस बात से हमें सब प्रकार सतर्क रहना चाहिए। "केवल वही जो शास्त्रज्ञ, निष्पाप, कामगन्धहीन तथा श्रेष्ठ ब्रह्मविद् है,"* सच्चा गुरु है।

उपरोक्त कथन से स्पष्ट होता है कि हम धर्मानुराग, धर्म-बोध तथा धर्म को जीवन में परिणत करना किसी भी ऐसे वैसे मनुष्य से नहीं सीख सकते। "पर्वतों द्वारा धर्म-प्रेरणा, कलकल-

---

* श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः।

—विवेकचूड़ामणि, ३४ श्लो०

नादिनी स्रोतस्विनी द्वारा शास्त्रज्ञान तथा प्रत्येक वस्तु में शुभ दर्शन "† आदि बातें आलंकारिक दृष्टि से बड़ी सुन्दर हैं। परन्तु यदि किसी व्यक्ति में अपरिस्फुट भाव में भी धर्म-बीज विद्यमान नहीं है तो वह किसी से भी सत्य ज्ञान की थोड़ी भी शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता। पर्वत तथा निर्झर किसे शिक्षा दे सकते हैं? केवल उसी आत्मा को जिसके हृदय-मन्दिर का पवित्र ज्ञान-कमल खिला हुआ है और इसे पूर्ण रूप मे विकसित करने वाला ज्ञान-प्रकाश सद्गुरु से ही आता है। जब हृदय इस प्रकार खिल जाता है तभी वह इस योग्य होता है कि पर्वतों, निर्झरों, नक्षत्रों, सूर्य, चन्द्र अथवा इस ब्रह्ममय विश्व में किसी भी वस्तु से शिक्षा ग्रहण कर सके, परन्तु अविकसित हृदय को ये चीजें तो केवल पत्थर अथवा झरनों के रूप में ही दिखाई देंगी। यदि एक मनुष्य आँखें बन्द करके अजायब घर में जाय तो उसे इससे किसी प्रकार लाभ न होगा। पहले उसकी आँखें खुलनी चाहिए और तभी वह इस योग्य हो सकेगा कि वहाँ की भिन्न भिन्न वस्तुओं से शिक्षा ग्रहण कर सके।

---

† And this our life exempt from public haunt,
Finds tongues in trees, books in the running brooks,
Sermons in stones and good in everything.
—'Shakespeare's 'As you like it,' Act II, Sc. I.

गुरु ही धर्मपिपासक के अन्तश्चक्षु खोलने वाला होता है। अतः हमारा सम्बन्ध गुरु से ऐसा ही होता है जैसा पौत्रादिकों का अपने पूर्वजों से। हमारे हृदय में अपने गुरु के प्रति भक्ति, नम्रता, विनय तथा श्रद्धा हुए बिना हम में किसी प्रकार की धर्म-ज्ञान-वृद्धि नहीं हो सकती। और यह विशेष महत्व की बात है कि जहाँ गुरु तथा शिष्य में इस प्रकार का सम्बन्ध होता है केवल वहीं असाधारण धर्मवीर होते हैं; इसके अतिरिक्त उन देशों में जहाँ इस प्रकार के गुरु-शिष्य सम्बन्ध की उपेक्षा हुई है वहाँ धर्मगुरु एक व्याख्याता मात्र ही रह गया है—वहाँ गुरु को केवल अपने शुल्क से ही मतलब रहता है तथा शिष्य को अपने मस्तिष्क में गुरु के शब्दों को ठूँस लेने से, और तदुपरान्त दोनों अपनी अपनी राह लेते हैं। ऐसी दशा में आध्यात्मिकता शून्य सदृश रह जाती है। न कोई सञ्चारक होता है, न कोई सञ्चारित। ऐसे लोगों के लिए धर्म व्यवसायरूप हो जाता है। वे सोचते हैं कि वे उसे खरीद सकते हैं। यदि ईश्वरेच्छा से धर्म इतना सुलभ हो जाय तो बड़ा ही सुन्दर हो, परन्तु अभाग्यवश ऐसा हो ही नहीं सकता।

धर्म, जो सर्वोच्च ज्ञानस्वरूप है न खरीदा जा सकता है और न पुस्तकों द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। तुम संसार का कोना कोना छान डालो, चाहे तुम हिमालय, आल्प्स, काकेशस आदि बड़े बड़े पर्वतों में भी खोज करो, चाहे समुद्रमन्थन करो, चाहे तिब्बत अथवा

गोबी के मरुस्थल का अन्वेषण कर डालो, परन्तु फिर भी उस समय तक तुम्हें इसकी प्राप्ति नहीं होगी जब तक तुम्हारा हृदय इसे ग्रहण करने योग्य नहीं हो जाता तथा जब तक तुम्हें गुरु-लाभ नहीं होता। और जब सौभाग्यवश विधाता द्वारा निर्दिष्ट गुरु-लाभ हो जाय तो बच्चे के सदृश विश्वास तथा सरलता से उसकी सेवा करो, अपने हृदय को उसके सम्मुख खोल दो और उसको साक्षात् ईश्वर स्वरूप देखो। जो व्यक्ति इस प्रकार श्रद्धा तथा भक्ति से सत्य की खोज करते हैं उनके लिये सत्यस्वरूप भगवान् सत्य, शिव तथा सौंदर्य अलौकिक रूप से प्रकाशित करते हैं।

---

६. अवतार

जहाँ प्रभु का गुणगान होता है वही स्थान पवित्र होता है; तो फिर वह मनुष्य कितना पवित्र होगा जो प्रभु का गुणगान करता है ! किस श्रद्धा से हमें उस पुरुष के समीप जाना चाहिए जिससे हमें आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त होती है ! संसार में इस प्रकार के श्रेष्ठ-तम धर्मगुरु बहुत थोड़े होते हैं, परन्तु फिर भी यह बात नहीं, कि संसार में ऐसे महापुरुष हैं ही नहीं। मनुष्य जाति के वे सर्वश्रेष्ठ पुष्प हैं तथा 'अहैतुक दयासिन्धु' हैं। || भगवान् श्रीकृष्ण भागवत में कहते हैं। 'गुरु को मुझे ही जानो।' † यह संसार ज्योंही इन आचार्यों से शून्य हो जायगा त्योंही यह एक भयंकर नरककुण्ड बन जायगा और इसका नाश भी शीघ्र ही हो जायगा।

साधारण गुरुओं से श्रेष्ठ एक और श्रेणी के गुरु होते हैं जो इस संसार में ईश्वर के अवतार होते हैं। केवल स्पर्श से ही वे आध्यात्मिकता प्रदान कर सकते हैं, यहाँ तक कि इच्छा मात्र से ही। उनकी इच्छानुसार महान् दुराचारी तथा पतित व्यक्ति भी क्षण भर में ही साधु हो जाता है। वे पुरुष गुरुओं के भी गुरु हैं तथा मनुष्य रूप में भगवान् के अवतार हैं। उनके आश्रय बिना हम ईश्वरदर्शन नहीं

|| विवेकचूड़ामणि, ३५ श्लो०

† आचार्यं मां विजानीयात्-इत्यादि —श्रीमद्भागवत, ११।१७।२६

कर सकते। उनकी उपासना बिना हम रह ही नहीं सकते और वास्तव में केवल वे ही ऐसे हैं जिनकी हमें उपासना करनी चाहिए।

इन मानवशरीरधारी ईश्वरावतारों के बिना सहारे कोई मनुष्य ईश्वरदर्शन नहीं कर सकता। यदि हम किसी अन्य साधन द्वारा ईश्वरदर्शन का यत्न करते हैं तो हम अपने मन में ईश्वर का कोई एक विचित्र रूप निर्धारित कर लेते हैं और हमारा यह विश्वास हो जाता है कि वही वास्तविक ईश्वर रूप है। कथा प्रचलित है कि एक अनाड़ी आदमी से भगवान् शिव की मूर्ति बनाने को कही गई। कई दिन के घोर परिश्रम के बाद उसने एक मूर्ति बनाई जो बस बन्दर के सदृश थी! इसी प्रकार जब हम ईश्वर के निर्गुण पूर्ण स्वरूप की कल्पना करते हैं तो बहुधा असफल होते हैं, क्योंकि मनुष्य की दशा में हम उसे मनुष्य स्वरूप से अधिक कुछ सोच ही नहीं सकते। समय आएगा जब हम मनुष्य प्रकृति को अतिक्रमण कर उसके सच्चे स्वरूप को पहचानेंगे। परन्तु जब तक हम यह शरीर धारण किये हुए हैं तब तक हमें उसकी उपासना मनुष्य के रूप में और मनुष्य के सदृश ही करनी चाहिए। तुम चाहे जितनी बातें करो, चाहे जितना यत्न करो, परन्तु भगवान् को मनुष्य-रूप के अतिरिक्त तुम किसी अन्य रूप में सोच ही नहीं सकते। ईश्वर तथा संसार की सारी वस्तुओं पर चाहे तुम कितने ही तर्कयुक्त भाषण दे डालो, चाहे जितने बड़े युक्तिवादी बन जाओ और अपने मन को समझा लो कि इन सारे ईश्वरावतारों की कथा भ्रमात्मक है, परन्तु यदि हम विचार

करें कि सहज बुद्धि से हमें क्या प्रतीत होता है तथा हमें इस विचित्र विचार-बुद्धि से क्या प्राप्त होता है तो उत्तर यही होगा—शून्य, कुछ नहीं, केवल शब्दाडम्बर। भविष्य में जब कभी तुम किसी मनुष्य को अवतार-पूजा के विरुद्ध एक बड़ा तर्कपूर्ण भाषण देते हुए सुनो तो उससे यह प्रश्न करो कि उसकी ईश्वर सम्बन्धी धारणा क्या है। सर्वशक्तिशाली, सर्वव्यापी तथा इस प्रकार के अन्य शब्दों का अर्थ वह केवल अक्षरों के जानने की अपेक्षा क्या समझता है? वास्तव में वह कुछ नहीं समझता। वह उनका कोई ऐसा अर्थ नहीं लगा सकता जो उसकी स्वयं की मानवी प्रकृति से प्रभावित न हो। यहाँ तक कहा जा सकता है कि इस सम्बन्ध में वह बिलकुल उसी सामान्य मनुष्य के सदृश है जिसे एक पुस्तक का भी बोध नहीं है। बल्कि यह सामान्य मनुष्य फिर अच्छा है, क्योंकि यह कम से कम शान्त तो रहता है और संसार की शान्ति को तो नहीं भङ्ग करता, परन्तु यह महान् वक्ता तो बड़ा गड़बड़ मचाता है तथा मनुष्य जाति में अशान्ति एवं दुःख पैदा करता है। कुछ भी हो, वास्तव में प्रत्यक्षानुभूति ही धर्म है। साधारण बातचीत तथा आभ्यन्तरिक अनुभूति में हमें अन्तर समझना चाहिए: हृदय के गम्भीरतम प्रदेश में हम जो अनुभव करते हैं वही प्रत्यक्षानुभूति है। इस विषय की जानकारी के निमित्त सहज ज्ञान (Common Sense) बड़ा उपयोगी है।

अपनी वर्तमान प्रकृतिवश हम ईश्वर को केवल मनुष्य रूप में ही देख सकते है, अन्य किसी में नहीं। उदाहरणार्थ, यदि भैंसें

ईश्वर की उपासना करना चाहें तो अपनी प्रकृति के अनुसार वे उसे एक बड़े भैंसे के रूप में ही देखेंगे। इसी प्रकार यदि एक मछली ईश्वर की उपासना करना चाहती है तो उसे ईश्वर का आकार एक बड़ी मछली के सदृश ही मानना होगा और इसी तरह मनुष्य ईश्वर को मनुष्य रूप में ही देखता है। हमें यह न समझना चाहिए कि ये विभिन्न धारणाएँ विकृत कल्पनासम्भूत हैं। कहा जा सकता है कि मनुष्य, महिषी तथा मत्स्य आदि सब भिन्न भिन्न पात्र स्वरूप हैं; ये सब पात्र अपनी अपनी आकृति तथा जल-धारण-शक्ति के अनुसार ईश्वर रूपी समुद्र के पास स्वयं को भरने के लिए जाते हैं। पानी मनुष्य में मनुष्य का रूप ले लेता है, भैंसे में भैंसे का और मछली में मछली का। प्रत्येक पात्र में ईश्वर रूपी समुद्र का ही जल है। जब मनुष्य ईश्वर को देखता है तो वह उसे मनुष्य रूप में पाता है और यदि यह मान लिया जाय कि जानवरों में भी ईश्वर सम्बन्धी कोई ज्ञान है तो अपनी अपनी धारणा के अनुसार वे उसे जानवर के रूप में ही देखेंगे। अतः हम ईश्वर को मनुष्य रूप के अतिरिक्त अन्य किसी दूसरे रूप में देख ही नहीं सकते और इसलिए मनुष्य रूप में उसकी उपासना करना हमारे लिए आवश्यक हो जाता है। अन्य कोई रास्ता है ही नहीं।

केवल दो प्रकार के ही मनुष्य ऐसे हैं जो मनुष्य रूप में ईश्वरोपासना नहीं करते। एक तो नरपशु जिन्हें धर्म का कोई ज्ञान नहीं और दूसरे परमहंस जो मानव जाति की सारी दुर्बलताओं का अतिक्रमण

कर चुके हैं तथा स्वयं की मानव प्रकृति की सीमा का उल्लंघन कर गए हैं। उनके लिए सारी प्रकृति आत्मस्वरूप हो चुकी है। केवल वे ही भगवान् के वास्तविक स्वरूप में भगवान् की उपासना कर सकते हैं। अन्य बातों के सदृश यहाँ भी दो पराकाष्ठाएँ एक सी हो गई हैं। एक ओर अज्ञान की पराकाष्ठा और दूसरी ओर ज्ञान की। इन दोनों में से किसी के लिए भी उपासना आवश्यक नहीं है। नरपशु अज्ञानवश उपासना नहीं करता और जीवन्मुक्त इसलिए उपासना नहीं करता कि उसने स्वयं में परमात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है। इन दो दशाओं के बीच में स्थित, यदि कोई मनुष्य तुमसे कहे कि वह मनुष्य-रूप में ईश्वर की उपासना नहीं करता तो उस मनुष्य से सावधान रहना चाहिये। उसके लिए बिना कोई अन्य कठोर विशेषण प्रयोग किये हुए बस इतना ही कहा जा सकता है कि वह अंड-बंड बकता है। उसका धर्म अज्ञानी तथा मूर्ख लोगों के लिए ही है।

ईश्वर मनुष्य की दुर्बलताओं को जानता है और मनुष्यजाति के हित के लिए मनुष्य रूप में अवतार लेता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अवतार के सम्बन्ध में गीता में कहा है—"जब जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का अभ्युत्थान होता है तब तब मैं अवतार लेता हूँ। धर्मसंस्थापन, दुष्टों के नाश तथा साधुजनों के

परित्राण के लिए मैं युग युग में जन्म लेता हूँ।" ‖ "मूर्ख लोग बिना यह जाने कि मैं सब लोगों का ईश्वर हूँ तथा मुझे मानव-शरीरधारी समझकर मेरी अवहेलना किया करते हैं।" †

भगवान् श्रीरामकृष्ण देव का भी कथन है कि, "जब समुद्र की एक बहुत बड़ी लहर आती है तो छोटे छोटे नाले और गड्ढे बिना किसी प्रयास के ही लबालब भर जाते हैं। इसी प्रकार जब एक अवतार जन्म लेता है तो समस्त संसार में आध्यात्मिकता की एक बहुत बड़ी लहर आती है और मनुष्यों को यह अनुभव हो जाता है कि धर्मभाव प्रायः समस्त विश्व में व्याप्त है।"

‖ यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ —गीता, ४।७,८

† अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्। —गीता, ९।११

७. मंत्र

अब हम इन अवतारी महापुरुषों के वर्णन के बाद सिद्ध गुरुओं की चर्चा करेंगे। जाप किए जाने वाले मंत्र द्वारा शिष्य में आध्यात्मिक ज्ञान का बीजारोपण करना उनका कर्तव्य होता है। ये मंत्र क्या हैं? भारतीय दर्शनशास्त्रानुसार समस्त संसार नामरूपात्मक है। एक सूक्ष्म ब्रह्माण्डरूपी मनुष्य के चित्त में एक भी लहर ऐसी नहीं उठ सकती जो नामरूपात्मक न हो। यदि यह सत्य है कि प्रकृति सर्वत्र एक नियम से निर्मित है, तो यही नामरूपात्मकता समस्त ब्रह्माण्ड का नियम होना चाहिए। "जैसे एक मिट्टी के पिण्ड को जान लेने से मिट्टी की सब चीज़ों का ज्ञान हो जाता है,"‡ इसी प्रकार इस देहपिण्ड को जान लेने से समस्त विश्वब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाता है। रूप वस्तु का बाहरी छिलका है और नाम तथा भाव अन्दर की गूदी। इसी प्रकार शरीर रूप है तथा मन अथवा अन्तः-करण नाम है; और वाक्शक्तियुक्त प्राणियों म इस नाम के साथ उसके वाचक शब्दों का अभेद्य ऐक्य रहता है। पहले मनुष्य के व्यष्टि-महत् अथवा चित्त में विचारतरंग शब्द के रूप में उठती है और फिर बाद में यही तदपेक्षा स्थूल रूप धारण कर लेती है।

---

‡ यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्—इत्यादि

—छान्दोग्य उपनिषद्, ६।१।४

ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा, हिरण्यगर्भ अथवा समष्टि-महत् ने पहले अपने को नाम के रूप में और फिर आकार के रूप में अर्थात् इस जगदाकार में अभिव्यक्त किया। यह व्यक्त इन्द्रियग्राह्य जगत् रूप है, इसके पीछे अनन्त अव्यक्त स्फोट अर्थात् समस्त जगत् की अभिव्यक्ति का कारण शब्द-ब्रह्म है। यह नित्य स्फोट ही जो कि समस्त नाम तथा भाव का नित्य उपादान स्वरूप है, वह शक्ति है जिससे भगवान् ने इस विश्व का सृजन किया। इतना ही नहीं बल्कि ईश्वर पहले अपने को स्फोट रूप में परिणत करता है और तत्पश्चात् अपने को अधिक स्थूल तथा इन्द्रियग्राह्य जगत् के रूप में बदल देता है। इस स्फोट का एक मात्र वाचक शब्द 'ॐ' है। और जिस प्रकार हम यथासाध्य शब्द तथा भाव को किसी प्रकार अलग नहीं कर सकते उसी तरह 'ॐ' तथा इस नित्यस्फोट में भी नित्य सम्बन्ध है। अतः हम यह सहज ही मान सकते हैं कि इसी पवित्रतम तथा नाम-रूप के जनकस्वरूप 'ॐ कार' से समस्त विश्व की उत्पत्ति हुई है। इस सम्बन्ध में यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि यद्यपि शब्द और भाव में नित्य सम्बन्ध है तथापि जिस प्रकार एक भाव के वाचक अनेक शब्द हो सकते हैं उसी तरह शायद यह आवश्यक न हो कि 'ॐ' नामक शब्द-विशेष ही जगत् की अभिव्यक्ति के कारणस्वरूप भाव का वाचक हो। हमारा उत्तर यह है कि केवल 'ॐ' ही इस प्रकार का अकेला सर्वभावव्यापी वाचक शब्द है, अन्य कोई नहीं। स्फोट ही सब भावों का उपादान है, न कि

पूर्ण रूप से विकसित कोई विशिष्ट भाव। अर्थात् भिन्न भिन्न भावों में पारस्पारिक प्रभेद को दूर कर देने से जो अवशेष रहता वै वही स्फोट है और इसलिए स्फोट को नादब्रह्म कहते हैं। जिस किसी वाचक शब्द द्वारा अव्यक्त स्फोट इस प्रकार व्यक्त होता है कि उसके विशिष्टत्व के कारण उसका स्फोटत्व चला जाता है तो वह शब्द जो इसको अल्पतम परिमाण में विशेषभावापन्न करता हुआ साथ ही साथ उसके स्वरूप को यथासम्भव प्रकाशित करता है वही शब्द स्फोट का वास्तविक वाचक होता है और यह शब्द केवल 'ॐ' ही है; क्योंकि अ, उ, म ये तीन अक्षर ही जब एक साथ उच्चारित होते है तो 'ॐ' बनता है और ये अक्षर ही अन्य सब शब्दों के साधारण रूप से वाचक माने जाते हैं। 'अ' सब अक्षरों में अल्पतम विशेष-भावापन्न है और भगवान् श्रीकृष्ण भी गीता में कहते हैं कि "सब अक्षरों में 'अ' कार मैं ही हूँ।"‡ शेष सब स्पष्टोच्चारित शब्द मुँह के अन्दर ही पैदा होते है, उनका आरम्भ जिह्वामूल से होता है तथा अन्त ओठों में। इनमें से 'अ' जिह्वामूल अर्थात् कण्ठ से उत्पन्न होता है और 'म' ओठों का अन्तिम शब्द है। 'उ' वह शक्ति है जो जिह्वामूल से आरम्भ होकर मुँह भर में लुढ़कती हुई ओठों में समाप्त होती है। यदि ठीक तरह से उच्चारित किया जाय तो 'ॐ' समस्त उच्चारित शब्दों का सूचक कहा जा सकता है, क्योंकि अन्य

‡ अक्षराणामकारोऽस्मि। —गीता, १०।३३

कोई भी शब्द ऐसा नहीं है जो इस प्रकार उच्चारित किया जा सके और इसलिए यह स्फोट का अत्यन्त उपयुक्त वाचक तथा स्फोट इसका वाच्य है। वाचक वाच्य से कभी अलग नहीं हो सकता; इसलिए 'ॐ' और स्फोट दोनों एक ही हैं। और चूँकि स्फोट व्यक्त जगत् का सूक्ष्मतम अंश होने के कारण ईश्वर के अत्यन्त निकटवर्ती है और ईश्वरीय ज्ञान का वास्तविक प्रथम प्रकाश है, इसलिए 'ॐ' भी ईश्वर का वास्तविक वाचक है। और जिस प्रकार एकमात्र अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म का अपूर्ण जीवात्मा द्वारा विशेष गुणों तथा भावों से चिन्तन किया जा सकता है उसी प्रकार उसके शरीर रूपी विश्व का चिन्तन साधक की मनोवृत्ति के अनुसार भिन्न भिन्न रूप में होना चाहिए।

उपासक के मन में जब जिस प्रकार का तत्व प्रबल होता है तब उसी प्रकार के भावों की जागृति होती है। इसका फल यह होता है कि एक ही ब्रह्म भिन्न भिन्न रूप तथा विशिष्ट गुणों में दिखाई देता है और वही एक विश्व भिन्न भिन्न रूप में भावित होता है। जिस प्रकार अल्पतम विशेषभावापन्न तथा सार्वभौमिक वाचक 'ॐ' में वाच्य और वाचक अत्यन्त घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं उसी प्रकार वाच्य तथा वाचक के अविच्छिन्न सम्बन्ध का सिद्धान्त ईश्वर तथा विश्व के बारे में विभिन्न भावों पर भी लागू है, और इन सबों के लिए अलग अलग वाचक शब्द होना आवश्यक है। ये वाचक शब्द जो महापुरुषों की गंभीर आध्यात्मिक अनुभूति से उत्पन्न हुए हैं,

भगवान् तथा विश्व के सम्बन्ध में विभिन्न भावों को यथासम्भव प्रकट करते हैं। और जिस प्रकार 'ॐ' अखण्ड ब्रह्म का सूचक है उसी प्रकार अन्यान्य मंत्र भी उसी परमपुरुष सम्बन्धी विभिन्न भावों के वाचक हैं। ये सब ईश्वर-ध्यान, तथा सत्य-ज्ञान-लाभ के लिये सहायक हैं।

---

८. प्रतीक तथा प्रतिमा-उपासना

अब हम प्रतीकोपासना तथा प्रतिमा-पूजन की विवेचना करेंगे। प्रतीक का अर्थ है वे वस्तुएँ जो किसी न किसी अंश तक ब्रह्म के स्थान में उपास्य कही जा सकती है। प्रतीक द्वारा ईश्वरोपासना का क्या अर्थ है—इस सम्बन्ध में भगवान् रामानुज का कथन है कि प्रतीकोपासना का अर्थ यह है कि जो वस्तु ब्रह्म नहीं है उसे ब्रह्म मानकर उसमें भक्तिपूर्वक मन को लगा देना।" || भगवान् शंकर का कथन है कि, मन की उपासना ब्रह्म के रूप में करो। यह आध्यात्मिक उपासना है; और आकाश ब्रह्म है, यह आधिदैविक। मन आध्यात्मिक और आकाश बाह्य प्रतीक है। दोनों की उपासना ब्रह्म के स्थान में हो सकती है। इसी प्रकार, 'आदित्य ही ब्रह्म है यह आदेश है'........'जो नाम की उपासना ब्रह्म के सदृश करते हैं,' आदि आदि; इस प्रकार के वाक्यों द्वारा प्रतीकोपासना के सम्बन्ध में संशय होता है।" † प्रतीक शब्द का अर्थ है अग्रसर होना और प्रतीकोपासना का अर्थ है ब्रह्म के स्थान

|| अब्रह्मणि ब्रह्मदृष्ट्याऽनुसन्धानम्।—ब्रह्मसूत्र, रामानुजभाष्य, ४।१।५

† 'मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्मम्।'
'अथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेति।'
तथा 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः।'
'स य नाम ब्रह्मेत्युपास्ते' इत्येवमादिषु प्रतीकोपासनेषु संशयः।

—ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, ४।१।५

में किसी ऐसी वस्तु की उपासना करना जो एक अथवा अधिक रीति से ब्रह्म के सदृश है परन्तु स्वयं ब्रह्म नहीं है। श्रुतियों में वर्णित प्रतीकों के अतिरिक्त पुराणों तथा तंत्रशास्त्रों में भी प्रतीकों का उल्लेख है। इस प्रकार की प्रतीकोपासना में भिन्न भिन्न प्रकार की पितृ तथा देवोपासना अन्तर्भूत है।

ईश्वर तथा ईश्वरमात्र की उपासना भक्ति है। अन्य किसी की उपासना, जैसे देव, पितृ आदि की, भक्ति नहीं कही जा सकती। भिन्न भिन्न देवताओं की भिन्न भिन्न प्रकार की उपासनाओं की गणना कर्मकाण्ड में ही हो सकती है। इनके द्वारा उपासक को केवल एक स्वर्गभोगरूपी फल ही मिलता है; न भक्ति, न मुक्ति। इसलिए हमें एक बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए: जैसा कभी कभी होता है, यदि प्रतीक ही दर्शनशास्त्रों का उच्चतम ध्येय अर्थात् परब्रह्म मान लिया जाता है तथा वही स्वयं उपासक की आत्मा (अन्तर्यामी) समझ लिया जाता है तो उपासक लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता है, क्योंकि कोई प्रतीक किसी प्रकार से भी उपासक की आत्मा नहीं हो सकता। परन्तु जहाँ ब्रह्म स्वयं ही उपास्य होता है और प्रतीक उसके केवल प्रतिनिधि स्वरूप अथवा उसके उद्दीपन का कारण मात्र होता है अर्थात् जहाँ प्रतीक द्वारा सर्वव्यापी ब्रह्म की उपासना होती है और प्रतीक को प्रतीक रूप ही न मानकर उसे जगत्-कारण रूप ब्रह्म मानते हैं वहाँ उपासना निश्चय रूप से फलप्रद होती है। इतना ही नहीं, बल्कि साधक के लिए यह अनिवार्य

भी है, विशेषकर जब तक कि वह उपासना के सम्बन्ध में चित्त की आरम्भिक दशा के परे न चला जाय। इसलिए जब देवताओं तथा अन्य वस्तुओं की उपासना उनके निमित्त ही होती है तो इसे केवल कर्मकाण्ड कहना चाहिए, और विद्या की दृष्टि से हमें केवल उस विद्या का फल मात्र मिल जाता है। परन्तु जब हम देवताओं तथा अन्य वस्तुओं को ब्रह्म स्वरूप मानकर उपासना करते हैं तो हमें वह फल प्राप्त होता है जो ईश्वरोपासना से मिलता है। इससे हमें यह बात स्पष्ट होती है कि श्रुति तथा स्मृति दोनों में किसी देवता, महापुरुष अथवा अन्य किसी अलौकिक पुरुष के प्राकृतिक रूप को भूलकर तथा उसे ब्रह्म रूप मानकर उसकी उपासना क्यों की गई है। अद्वैतवादियों का कथन है कि नाम-रूप अलग हो जाने के बाद क्या प्रत्येक वस्तु ब्रह्म स्वरूप नहीं है? विशिष्टाद्वैतवादियों का कथन है कि क्या ईश्वर ही सभी की अन्तरात्मा नहीं है? श्री शंकराचार्य का ब्रह्मसूत्रभाष्य में मत है कि, "आदित्य आदि की उपासना का फल ब्रह्म ही स्वयं देता है, क्योंकि वही सबों का नियन्ता है। इस प्रकार ब्रह्म उपास्य हो जाता है, क्योंकि जिस प्रकार विष्णु आदि की दृष्टि प्रतिमा पर आरोपित होती है उसी प्रकार ब्रह्म-दृष्टि प्रतीकों पर।" †

† फलमादित्याद्युपासनेषु ब्रह्मैव दास्यति सर्वाध्यक्षत्वात्। ईदृशं चात्र ब्रह्मण उपास्यत्वं यतः प्रतीकेषु तद्दृष्ट्याध्यारोपणं प्रतिमादिषु इव विष्णवादिनाम्।

—ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, ४।१।५

प्रतिमा तथा प्रतीक दोनों के उपासना सम्बन्धी भाव एक ही हैं—अर्थात् यदि प्रतिमा को ही किसी देवता अथवा महापुरुष का स्थान दे दिया जाय तो इस प्रकार की उपासना को भक्ति नहीं कह सकते और न इससे मोक्ष लाभ ही होता है। परन्तु यदि वह एक ही ईश्वर की सूचक है तो उस उपासना से भक्ति और मुक्ति दोनों प्राप्त हो सकती हैं। संसार के मुख्य धर्मों में से वेदान्त, बौद्ध धर्म तथा ईसाई धर्म के कुछ सम्प्रदायों में प्रतिमा-पूजा खूब होती है। केवल इस्लाम तथा प्रॉटेस्टण्ट ये दो ही धर्म ऐसे हैं जो इस सहायता की आवश्यकता नहीं समझते। परन्तु फिर भी हम कह सकते हैं कि मुसलमानों के यहाँ प्रतिमा के स्थान में उनके पीर तथा शहीदों की क़ब्रें होती हैं; और प्रॉटेस्टण्ट लोग सब प्रकार की बाह्य धार्मिक सहायता का तिरस्कर कर धीरे धीरे वर्ष प्रतिवर्ष आध्यात्मिकता से दूर हटते चले जा रहे हैं, यहाँ तक कि आजकल अग्रगण्य प्रॉटेस्टण्ट तथा केवल नीतिवादी ऑगस्ट कॉम्टे के शिष्यों तथा अज्ञेयवादियों में कोई भेद नहीं रह गया है। इसके अतिरिक्त ईसाई तथा इस्लाम धर्म में यदि प्रतिमा-उपासना कुछ है भी तो वह वैसी ही जिसमें प्रतीक तथा प्रतिमा मात्र ही उपास्य है, न कि वह ब्रह्मदृष्टि प्राप्त करने में सहायता के रूप में, और इसलिए इसका रूप केवल कर्मकाण्ड का ही है। इससे न भक्ति मिल सकती है, न मुक्ति। इस प्रकार की प्रतिमा-उपासना में आत्मा का समर्पण ईश्वर को छोड़कर अन्य किन्हीं वस्तुओं को ही कर दिया जाता है और इसलिए प्रतिमा, क़ब्र, मन्दिर आदि

की इस प्रकार की उपासना केवल मूर्तिपूजा ही कही जा सकती है। हाँ, इतना कह सकते हैं कि यह पापकर्म अथवा अन्याय नहीं है। यह एक कर्म मात्र है और इस प्रकार के उपासकों को उस उपासना का ही फल मिलेगा।

---

१. इष्टनिष्ठा

अब हम इष्टनिष्ठा के सम्बन्ध में विचार करेंगे। जो भक्त होने का इच्छुक है उसे यह ज्ञात होना चाहिए कि 'जितने मत हैं उतने ही मार्ग।' उसे जानना चाहिए कि विभिन्न धर्मों के विभिन्न सम्प्रदाय उस एक ही ईश्वर की महिमा के विभिन्न विकास स्वरूप हैं। "तुम्हें वे कितने नामों से सम्बोधित करते हैं, कितने नामों से वे मानो तुम्हारा विभाजन करते हैं। परन्तु फिर भी प्रत्येक नाम में तुम्हारी पूर्ण शक्ति का अस्तित्व है। इन सब नामों द्वारा तुम उपासक को प्राप्त हो जाते हो। यदि आत्मा में तुम्हारे प्रति गाढ़ प्रेम है तो तुम्हारी पुकार के लिए कोई निश्चित समय भी नहीं है। तुम सहज रूप से प्राप्य भी हो। केवल यह मेरा दुर्भाग्य ही है कि मुझमे तुम्हारे प्रति अनुराग नहीं।" † इतना ही नहीं, भक्त को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अन्य धर्मसम्प्रदायों के महातेजस्वी प्रवर्तकों के प्रति उसके मन में न घृणा उत्पन्न होनी चाहिए, न दोष-दृष्टि, और न वह उनकी कभी निन्दा ही सुने। ऐसे लोग वास्तव में बहुत थोड़े होते हैं जिनमें

† नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति
स्तत्रार्पिता, नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः॥ —श्रीकृष्ण चैतन्य।

महान् उदारता हो, तथा जो दूसरों के गुण-निरीक्षण में समर्थ हों और साथ ही उनमें प्रगाढ़ प्रेम भी हो। बहुधा हम देखते हैं कि उदार भावापन्न सम्प्रदायों में धार्मिक भावों की गंभीरता नाश हो जाती है और उनके लिए धर्म केवल एक प्रकार की सामाजिक तथा राजनीतिक समिति के रूप में ही रह जाता है। दूसरी ओर वे लोग हैं जो बड़े संकीर्ण सम्प्रदाय वाले हैं; उनमें अपने अपने इष्ट के प्रति चाहे बड़ी भक्ति भले ही हो, परन्तु उनकी यह भक्ति उन लोगों के प्रति जो उनके मत से भिन्न हैं केवल घृणा से उत्पन्न हुई है। ईश्वरेच्छा से यदि संसार ऐसे लोगों से पूर्ण हो जिनमें गाढ़ प्रेम तथा परम उदारता दोनों हों तो कितना अच्छा है। परन्तु ऐसे लोग बहुत थोड़े होते हैं। तथापि हम जानते हैं कि संसार में काफी लोगों को इस प्रकार की शिक्षा दी जा सकती है जिसमें प्रेम की गंभीरता तथा उत्कटता दोनों का सम्मिश्रण हो और ऐसा करने का उपाय इष्टनिष्ठा ही है। भिन्न भिन्न धर्मों के भिन्न भिन्न सम्प्रदाय मनुष्य जाति के सम्मुख केवल एक ही आदर्श रखते हैं, परन्तु सनातन वेदान्त-धर्म, भगवान् के इस मन्दिर में प्रवेश करने के लिए अनेकानेक मार्ग खोल देता है और मनुष्य जाति के सम्मुख असंख्य आदर्श उपस्थित कर देता है। प्रत्येक आदर्श उस 'अनन्त सत्य' का विकास स्वरूप है। परम दया से युक्त वेदान्त-धर्म मुमुक्षु नर-नारियों को वे भिन्न भिन्न मार्ग दिखाता है जो अतीत तथा वर्तमान महिमान्वित ईश्वरतनय एवं ईश्वरी अवतारों द्वारा मनुष्य-जीवन की कठोर घटनाओं

रूपी चट्टानों के बीच से फोड़कर निकाले गये हैं। वह वेदान्त-धर्म अपने हाथ फैलाए हुए सभों का स्वागत करता है। इतना ही नहीं वरन् वह उन भावी पीढ़ियों को भी उस सत्य तथा आनंद के धाम को प्राप्त करने के लिए आह्वान देता है, जहाँ मानवात्मा मायाजाल से मुक्त होकर सम्पूर्ण स्वाधीनता तथा अनंत एवं विभोर आनंद में निमग्न रहती है।

अतः भक्तियोग हमें इस बात का आदेश देता है कि हम, भगवत्प्राप्ति के विभिन्न मार्गों में से किसी के प्रति घृणा तथा अस्वीकारता न प्रकट करें। तथापि यह आवश्यक है कि जब तक पौधा छोटा रहे उसे चारों तरफ से रूंध देना चाहिए जब तक कि वह बढ़कर एक बड़ा पेड़ न हो जाय। आध्यात्मिकता के इस छोटे पौधे को यदि आरम्भिक अपरिपक्व दशा में ही समय समय पर ध्येय तथा विचारों के परिवर्तन के धक्के लगेंगे तो यह मर जायगा। बहुत से लोग 'धार्मिक उदारता' के नाम पर अपने ध्येयों को समय समय पर परिवर्तित करते रहते हैं और इस प्रकार अपनी व्यर्थ की उत्सुकता को तृप्त करते हैं। उनके लिए भिन्न भिन्न विषयों का सुनना एक प्रकार की सनक और धार्मिक नशा सा हो जाता है। क्षणिक उन्माद के लिए ही वे नई नई बातें सुनना चाहते हैं और जब इस प्रकार की एक उन्मादयुक्त बात का असर उनके ऊपर से चला जाता है तब वे दूसरी सुनने को तैयार हो जाते हैं। उनके लिए धर्म एक प्रकार

का मानसिक नशा सा है और वहीं उसका अन्त होजाता है। भगवान् श्रीरामकृष्ण का कथन है कि, "दूसरी ओर एक ऐसा मनुष्य है जिसकी उपमा समुद्र की सीप से दी जा सकती है। सीप समुद्र की तह छोड़कर स्वाति नक्षत्र का जलबिन्दु लेने के लिए ऊपर आती है। यह स्वयं को खोले हुए समुद्र के पानी पर तैरती रहती है, जब तक कि इसमें उस नक्षत्र का जलबिन्दु पड़ नहीं जाता और उसके उपरान्त यह गोता मारकर समुद्र की तह में फिर चली जाती है तथा वहाँ उस समय तक पड़ी रहती है जब तक कि उस जलबिन्दु का एक सुन्दर मोती नही बन जाता। इसी प्रकार तत्त्वपिपासु तथा विश्वासी साधक गुरु-मंत्र रूपी जलबिन्दु को लेकर साधना रूपी अगाध जल में डूब जाता है और इधर उधर देखता भी नहीं।"

इष्टनिष्ठा के भाव को प्रकट करने के लिए यह अत्यन्त हृदयस्पर्शी तथा आलंकारिक उदाहरण है और इतनी सुन्दर उपमा शायद ही पहले कभी दी गई हो। इस प्रकार की एकनिष्ठा अथवा एक इष्ट के प्रति पूर्ण भक्ति साधक के लिए आरम्भिक दशा में अत्यन्त आवश्यक है। उसे श्री हनुमान जी के सदृश ही, जैसा रामायण में कहा गया है, यह भाव रखना चाहिए कि, "यद्यपि मुझे यह ज्ञात है कि श्री लक्ष्मीपति और श्री सीतापति दोनों परमात्म-दृष्टि से एक ही हैं, तथापि मेरे सर्वस्व तो वही कमललोचन श्रीराम ही हैं।" * अथवा गोस्वामी श्री तुलसीदास जी के अनुसार उसकी

---

* श्रीनाथे जानकीनाथे अभेदः परमात्मनि।
तथापि मम सर्वस्वं रामः कमललोचनः॥

यह धारणा होनी चाहिए कि, "सभों के साथ बैठो, सभों के साथ मिष्ट भाषण करो, सभों का नाम लो, और सभों से हाँ हाँ कहते रहो, परन्तु रहो अपने ही स्थान पर अर्थात् अपना भाव दृढ़ रखो।" ‡

तब यदि साधक सच्चा है तो गुरु के दिये हुए इस छोटे से बीज-मंत्र से ही उसमें पराभक्ति तथा परम ज्ञान रूपी एक बड़े भारी बट की उत्पत्ति होगी जिसमें से सब दिशाओं में शाखा-प्रशाखाएँ और जड़ें फूटती जाएँगी, यहाँ तक कि उनसे सारा धार्मिक क्षेत्र आच्छादित हो जायगा। इस प्रकार एक सच्चे भक्त को यह अनुभव होगा कि उसका इष्टदेव भिन्न भिन्न सम्प्रदायों में, भिन्न भिन्न नामों तथा रूपों मे पूजा जाता है।

---

‡ सब से बसिये सब से रहिये सब का लिजिये नाम।
हाँजी हाँजी करते रहिये बैठिये अपने ठाम॥

—गो० तुलसीदासजी॥

१०. भक्ति के साधन

भक्तियोग के साधनों के बारे में भगवान् रामानुज का वेदान्त-सूत्रों के भाष्य में कथन है कि भक्ति की उपलब्धि विवेक, दमन, अभ्यास, यज्ञादिक क्रियाओं, पवित्रता, बल और उल्लास के निरोध से होती है।" उनका मत है कि विवेक का अर्थ यह है कि अन्य चीज़ों के साथ ही साथ हमें खाद्याखाद्य का भी विचार रखना चाहिए। रामानुज के मतानुसार खाद्य वस्तु के अशुद्ध होने के बहुधा तीन कारण होते हैं:—(१) जातिदोष अर्थात् खाद्य वस्तु का प्रकृतिगत दोष, जैसे लहसुन, प्याज आदि में; (२) आश्रयदोष अर्थात् पतित और अभिशप्त व्यक्तियों के हाथ से ग्रहण करने में; और (३) निमित्तदोष अर्थात् किसी दूसरी गंदी वस्तु के संस्पर्श से जैसे धूल, केश आदि से। श्रुति का मत है कि, "आहार शुद्ध होने से चित्त शुद्ध होता है और चित्त शुद्ध होने से भगवान् का निरन्तर स्मरण होता है।" † यह वाक्य रामानुज ने छान्दोग्य उपनिषद् से उद्धृत किया है।

भक्तों के लिए खाद्याखाद्य का यह प्रश्न सदा ही बड़ा महत्वपूर्ण रहा है। अनेक भक्तसम्प्रदाय के लोगों ने इस विषय में बड़ा तिल

---

† आहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।

—छान्दोग्य उपनिषद्, ७।२६

का ताड़ भी किया है, परन्तु इस विषय में एक बहुत बड़ा सत्य अन्तर्निहित है। हमें यह जानना चाहिए कि सांख्यदर्शन के अनुसार सत्त्व, रज, तम, जिनकी साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं, तथा जिनकी वैषम्यावस्था से जगत् निर्माण होता है, प्रकृति के गुण तथा उपादान दोनों हैं। अतएव ये ही उपादान हैं जिनके द्वारा समस्त नरदेहों की उत्पत्ति हुई है और इनमें से सत्त्व अंश की प्रधानता आध्यात्मिक उन्नति के लिए अत्यावश्यक है। जो पदार्थ भोजन द्वारा हम अपने शरीर में ग्रहण करते हैं उनका हमारी मानसिक वृत्ति के ढालने में विशेष महत्त्व होता है। इसलिए हमें खाद्याखाद्य के विषय में विशेष सावधान रहना चाहिए। यह कह देना आवश्यक है कि इस सम्बन्ध में अन्य विषयों के सदृश जो कट्टरता शिष्यों द्वारा उपस्थित कर दी जाती है उसका उत्तरदायित्व आचार्यगणों पर नहीं है।

वास्तव में खाद्य के सम्बन्ध में शुद्धाशुद्ध विचार गौण है। श्री शंकराचार्य अपने उपनिषद्भाष्य में इस बात की दूसरी प्रकार से विवेचना करते हैं। उन्होंने 'आहार' शब्द को, जिसका अर्थ हम बहुधा भोजन लगाते हैं, एक दूसरे प्रकार से ही वर्णित किया है। उनके मतानुसार "जो कुछ आहृत हो वही आहार है। शब्दादिक विषयों का ज्ञान भोक्ता अर्थात् आत्मा के भोग के लिए भीतर आहृत होता है और इस विषयानुभूति रूपी ज्ञान की शुद्धि को आहारशुद्धि कहते हैं। इसलिए आहारशुद्धि का अर्थ है आसक्ति, द्वेष तथा मोह-

शून्य होकर विषय-विज्ञान प्राप्त करना। अतएव इस प्रकार के ज्ञान तथा 'आहार' के शुद्ध होने से इस व्यक्ति अर्थात् अन्तःकरण का सत्त्व गुण शुद्ध हो जाता है और इसके शुद्ध हो जाने से अनन्त पुरुष की, जिसका हमें यथार्थ ज्ञान है, अविच्छिन्न स्मृति प्राप्त हो जायगी।"‡

ये दो व्याख्याएँ ऊपर से विरोधी अवश्य प्रतीत होती हैं, परन्तु फिर भी दोनों सत्य और आवश्यक हैं। सूक्ष्म शरीर अथवा मन का संयम करना स्थूल शरीर के संयम से निश्चय श्रेष्ठ है, परन्तु साथ ही साथ सूक्ष्म के संयम के लिए स्थूल का भी संयम परमावश्यक है। इसलिए आरम्भिक दशा में साधक को आहार सम्बन्धी उन सब नियमों का विशेष रूप से पालन करना चाहिए जो उसके गुरुजनों के समय से चले आ रहे हैं; परन्तु अर्थशून्य ढोंग का कट्टरपन जो आजकल हम अनेक सम्प्रदायों में पाते हैं तथा जिसने धर्म को एकदम चौका तथा छुआछूत मात्र में ही अटका रखा है, केवल एक विचित्र प्रकार का कोरा जड़वाद ही है। इस कट्टरता से हम इस बात की बिलकुल आशा नहीं कर सकते कि वह धर्म वहाँ से कभी भी

‡ आह्रियत इत्याहारः शब्दादिविषयविज्ञानं भोक्तुर्भोगायाह्रियते तस्य विषयोपलब्धिलक्षणस्य विज्ञानस्य शुद्धिराहारशुद्धी रागद्वेषमोहदोषैरसंसृष्टविषयविज्ञानमित्यर्थः। तस्यामाहारशुद्धौ सत्यां तद्वतोऽन्तःकरणस्य सत्त्वस्य शुद्धिर्नैर्मल्यं भवति। सत्त्वशुद्धौ च सत्यां यथावगते भूमात्मनि ध्रुवाऽविच्छिन्ना स्मृतिरविस्मरणं भवति।

—छान्दोग्य उपनिषद्, शांकरभाष्य, ७।६

निकलकर आध्यात्मिकता के प्रकाश में आएगा। यह न तो ज्ञान है, न भक्ति और न कर्म; यह एक विचित्र प्रकार का पागलपन ही कहा जा सकता है और जो लोग अपनी आत्मा को इसी में स्थित कर देते हैं, उनके लिए यह अधिक उपयुक्त है कि ब्रह्मलोक की अपेक्षा वे पागलखाने चले जायँ। इसलिए यह बात युक्तियुक्त मालूम होती है कि खाद्याखाद्य का विचार मन की इस स्थिरतारूपी उच्चावस्था को प्राप्त करने के लिए, जो अन्य किसी प्रकार से सरलता से प्राप्त नहीं हो सकती, अत्यावश्यक है।

दूसरी आवश्यक बात 'इन्द्रियनिग्रह' है। इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से रोकना, वश में रखना तथा अपनी इच्छा के वशीभूत करना ही धार्मिक साधना की नींव कही जा सकती है।

उसके बाद आत्मसंयम तथा आत्मत्याग का 'अभ्यास' आता है। साधक के इस प्रबल संयम तथा अभ्यास के बिना परमात्मा को, जिसे हम विभिन्न रूप तथा गंभीर भाव में प्राप्त कर सकते हैं, पाना सहज नहीं। "मन में सदैव ईश्वर का चिन्तन करना चाहिए।" आरम्भिक दशा में मन को ईश्वर के निरन्तर चिन्तन में जबरदस्ती लगाना, बड़ा कठिन होता है, परन्तु अभ्यास की सहायता से हममें ऐसा करने की शक्ति धीरे धीरे बढ़ती जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं, "हे कौन्तेय, अभ्यास और वैराग्य से यह प्राप्त हो सकता है।"‡

‡ अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते। —गीता, ६।३५

अब रहीं पञ्चमहायज्ञ आदि यज्ञसम्बन्धी क्रियाएँ—वे तो करनी ही चाहिए।

पवित्रता उस दृढ़ नींव के सदृश है जिस पर सारा भक्तिरूपी प्रासाद अवलम्बित रहता है। स्थूल शरीर को साफ रखना तथा खाद्याखाद्य का विचार रखना दोनों सरल हैं, परन्तु आन्तरिक स्वच्छता तथा पवित्रता के बिना ये बाहरी क्रियाएँ किसी काम की नहीं। रामानुज के कथनानुसार अन्तःशुद्धि के लिए निम्नलिखित गुण उपायस्वरूप हैं:—(१) सत्य, (२) आर्जव अर्थात् सरलता, (३) दया अर्थात् निःस्वार्थ परोपकार, (४) दान, (५) अहिंसा अर्थात् मन, वचन, कर्म से किसी को हानि न पहुँचाना, (६) अनभिध्या अर्थात् परद्रव्यलोभ, वृथा चिन्ता तथा परकृत अनिष्ट आचरण के निरन्तर चिन्तन का त्याग। इन गुणों में से अहिंसा विशेष ध्यान देने योग्य है। सब प्राणियों के प्रति अहिंसा का भाव हमारे लिए परमावश्यक है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम केवल मनुष्यों के प्रति ही दया का भाव रखें तथा छोटे जानवरों को निर्दयता से मारते रहें और न यही जैसा कुछ लोग समझते हैं कि हम कुत्ते तथा बिल्लियों की ता रक्षा करते रहें तथा चींटियों को भी शक्कर खिलाते रहें, परन्तु दूसरी ओर अपने भ्रातृगणों का गला काटने के लिए हम अपने को पूर्ण स्वतंत्र मानें। बड़े आश्चर्य की बात है कि इस संसार में प्रायः प्रत्येक सद्भाव का अनुष्ठान बिना देश, काल और पात्र का विचार किए ऐसे अन्ध भाव से किया जा सकता है कि वह एक दोषयुक्त कृत्य हो जाता है। उदाहरणार्थ,

कई धार्मिक सम्प्रदायों के कुछ साधु इतने गंदे होते हैं कि वे इस विचार से कि कहीं उनके शरीर के जुएँ आदि मर न जायँ, नहाते तक नहीं। परन्तु उन्हें इस बात का कभी ध्यान भी नहीं आता कि ऐसा करने से वे दूसरों को कितना कष्ट देते हैं तथा कितनी बीमारियाँ फैलाते हैं। कहा जा सकता है कि वे कम से कम वैदिक धर्मावलम्बी नहीं हैं।

अहिंसाभाव की परीक्षा यह है कि मनुष्य में ईर्ष्या-भाव नहीं होना चाहिए। ऐसा हो सकता है कि मनुष्य आवेश में आकर अथवा कुसंस्कारों या पुरोहित-कुल की प्रेरणा से कोई सत्कर्म कर डाले अथवा दान भी दे डाले, परन्तु मनुष्य जाति का सच्चा प्रेमी वही है जिसमें किसी के भी प्रति ईर्ष्या-भाव नहीं है। बहुधा देखा जाता है कि संसार में जो बड़े मनुष्य कहे जाते हैं वे अक्सर एक दूसरे से केवल थोड़े से नाम, कीर्ति या धन के लिए ईर्ष्या करने लगते हैं। जब तक यह ईर्ष्या-भाव मन में रहता है तब तक अहिंसा-भाव का आना बड़ा कठिन होता है। गाय माँस नहीं खाती है और न भेड़ ही; तो क्या उन्हें हम बहुत बड़े योगी और अहिंसक कह सकते हैं? इतना तो कोई भी कर सकता है कि वह एक या दूसरी चीज़ का खाना छोड़ दे, परन्तु केवल इतने से ही वह घासफूस खाने वाले जानवरों से किसी विशेष प्रकार श्रेष्ठ नहीं है। एक ऐसा मनुष्य, चाहे वह केवल घास खाकर ही क्यों न रहता हो, परन्तु यदि विधवाओं तथा अनाथों को निर्दयता से धोखा देता है तथा धनप्राप्ति के लिए जघन्य

से जघन्य भी कृत्य कर सकता है तो वह पशु से भी अधम है। जो मनुष्य किसी भी अनिष्ट-चिन्ता नहीं करता तथा जो अपने बड़े से बड़े शत्रु की भी उन्नति पर आनंद मनाता है वही भक्त है, वही योगी है और वही सभों का गुरु है, चाहे उसका प्रतिदिन का आहार शूकरमाँस ही क्यों न हो। अतएव हमें इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि बाह्य क्रियाएँ आन्तरिक शुद्धि के लिए केवल सहायक मात्र हैं। जब बाह्य कर्मों के साधन में छोटी छोटी बातों का पालन करना सम्भव न हो, तो केवल आन्तरिक शुद्धि रखना ही अच्छा है। परन्तु वे मनुष्य और वह जाति बड़ी शोचनीय है जो धर्म के वास्तविक आध्यात्मिक रहस्य को भूलकर अपने को केवल बाह्य अनुष्ठान रूपी यंत्रों में जकड़े रहते हैं और उन्हें कभी छोड़ते नहीं। यदि ये अनुष्ठान आध्यात्मिक जीवन के द्योतक हैं, तो केवल उसी दशा में उनका महत्त्व है, और यदि वे आन्तरिक जीवन के सूचक नहीं रह गए हैं तो उन्हें बिना किसी विचार के त्याग दो।

भक्तियोग के प्राप्त करने का दूसरा साधन 'अनवसाद' है। श्रुतियों का कथन है कि "निर्बल व्यक्ति द्वारा आत्मलाभ नहीं हो सकता।" † इस निर्बलता से मतलब है–दोनों शारीरिक तथा मानसिक निर्बलता। "बलिष्ठ और दृढ़" ही साधक होने योग्य है। दुर्बल, कृश-शरीर तथा जराजीर्ण व्यक्ति क्या साधन कर सकता है? किसी

† नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः। —मुण्डकोपनिषद्, ३।२।४

भी योगाभ्यास द्वारा शरीर और मन के अन्तर्गत अद्भुत शक्ति के जागृत होते ही दुर्बल व्यक्ति टुकड़े टुकड़े हो जायगा। केवल "तरुण, स्वस्थ और बलवान्" ही सफल हो सकता है। अतएव शारीरिक सम्पत्ति बड़ी आवश्यक है। केवल स्वस्थ शरीर ही इस योग्य होता है कि वह इन्द्रियसंयम की प्रतिक्रिया को सह सके। जो भक्त होने का इच्छुक है उसे सबल तथा स्वस्थ होना चाहिए। अत्यन्त दुर्बल व्यक्ति किसी योगाभ्यास के आरम्भ करने में. सम्भव है किसी असाध्य बीमारी में पड़ जाय अथवा अपना मानसिक बल ही खो बैठे। जानबूझ कर शरीर को दुर्बल कर देना भक्ति तथा ज्ञान लाभ के लिए जरूरी नहीं है।

इसी प्रकार जिसका मन कमज़ोर है वह भी आत्मलाभ नहीं कर सकता। जो मनुष्य भक्त बनने का इच्छुक है उसे सदैव प्रसन्नचित्त रहना चाहिए। पाश्चात्य देशों में धार्मिक व्यक्ति वह माना जाता है जो शायद ही कभी मुसकराता हो, जिसके मुख पर विषाद की सी छाया बनी रहती है, और जिसका मुख लम्बा बना हुआ तथा खप्पट सा रहता है। कहना तो यह चाहिए कि ऐसे कृश-शरीर और लम्बे चेहरे वाले लोग योगी होने की अपेक्षा किसी हकीम के लिए मरीज़ अधिक उपयुक्त हो सकते हैं! प्रसन्नचित्त व्यक्ति ही अध्यवसायशील हो सकता है। दृढ़ मनवाला मनुष्य हज़ारों कठिनाइयों में से भी अपना रास्ता निकाल लेता है और इस माया-जाल में से अपना रास्ता

बनाकर निकल जाना, जो बड़ा ही कठिन कार्य है, केवल दृढ़ मानसिक बलवाले व्यक्तियों के लिए ही सम्भव है।

परन्तु साथ ही साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि मनुष्य अत्यधिक आनंद में उन्मत्त न हो जाय। यही अनुद्धर्ष है। अत्यन्त हास्य तथा कौतुक हमें गम्भीर चिन्ता के लिए अयोग्य बना देता है। इसके द्वारा मानसिक शक्ति व्यर्थ ही क्षय हो जाती है। जितनी ही दृढ़ इच्छाशक्ति होगी उतना ही मनुष्य भावों के कम वशीभूत होगा। चिन्ताजनक गम्भीर भावों का रहना जितना बुरा है उतना ही बुरा अत्यधिक आमोद है। जब मन सामञ्जस्यपूर्ण तथा स्थिर शान्तभावयुक्त होगा तभी सब प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूति सम्भव हो सकती है।

इन्हीं सब साधनों द्वारा क्रमशः ईश्वर-भक्ति का उदय हो सकता है।

---

११. पराभक्ति—त्याग

गौणी भक्ति के वर्णन के बाद अब हम पराभक्ति की विवेचना करेंगे। हम देखेंगे कि इस पराभक्ति के अभ्यास के लिए किसी एक विशेष साधना की आवश्यकता होती है। इन सब साधनाओं का उद्देश्य आत्मशुद्धि ही है। नामोच्चार, कर्मकाण्ड, प्रतीक, प्रतिमा आदि केवल आत्मशुद्धि के लिए ही हैं। शुद्धि की सब साधनाओं में त्याग ही सर्वश्रेष्ठ है। इसके बिना पराभक्ति के क्षेत्र में कोई प्रवेश नहीं कर सकता। त्याग बहुतों के अन्तःकरण में भय पैदा कर देता है, परन्तु इसके बिना आध्यात्मिक उन्नति हो ही नहीं सकती। सब योगाभ्यासों के लिए त्याग की आवश्यकता है। यही त्याग सारी आध्यात्मिकता का सोपान तथा मर्म है, यही वास्तविक धर्म है। जब मनुष्य अपना मन संसार की सब वस्तुओं से हटा लेता है तथा गंभीर विचारों का अनुसन्धान करता है, एवं जब मनुष्य को इस बात का ज्ञान हो जाता है कि इस संसार में उसकी आत्मा देह में बद्ध हुई, जड़रूप होकर क्रमशः विनाश की ओर जा रही है तो जड़ पदार्थों से वह अपना मन खींच लेता है और तभी त्याग का आरम्भ होता है, तभी वास्तविक अध्यात्मिकता की नींव पड़ती है। सब कर्मों के फलों के त्याग में ही कर्मयोगी का त्याग है। वह काम्य फलों में आसक्त नहीं होता और अपने कर्मों के उपलक्ष्य में न तो वह ऐहिक और न पारत्रिक लाभ की ही इच्छा करता है।

राजयोगी की यह धारणा रहती है कि समस्त प्रकृति का लक्ष्य यही है कि आत्मा को भिन्न भिन्न प्रकार के अनुभव प्राप्त हों और इस अनुभव का फल प्रकृति से नित्य स्वतंत्रत्व का बोध है। मानवात्मा को यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि वह नित्य आत्मस्वरूप है और उसका पंचभौतिक सम्बन्ध केवल कुछ समय के लिए ही होता है। राजयोगी प्रकृति के अनेक प्रकार के अनुभवों द्वारा वैराग्य की शिक्षा पाता है। ज्ञानयोगी का वैराग्य अन्य सभों की अपेक्षा बड़ा कठिन होता है, क्योंकि आरम्भ से ही उसे मन में यह समझ लेना पड़ता है कि यह सत्य प्रतीत होने वाली प्रकृति निरी मिथ्या है। उसे यह मान लेना पड़ता है कि प्रकृति में जो कुछ शक्ति का विकास प्रतीत होता है वह सब आत्मा का ही है, न कि प्रकृति का स्वयं। आरम्भ से ही उसे समझ लेना होता है कि समस्त ज्ञान तथा अनुभव आत्मा में ही अन्तर्हित हैं, प्रकृति में नहीं; और इसलिए उसे एकदम केवल विचारजन्य धारणा के बल से प्रकृति के समस्त बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर डालना पड़ता है। प्रकृति तथा समस्त प्राकृतिक पदार्थों को वह छोड़ देता है, उसकी दृष्टि में वे लुप्त हो जाते हैं तथा वह स्वयं कैवल्यपद में रहने का यत्न करता है।

सब प्रकार के त्यागों में भक्तियोगी का त्याग अत्यन्त स्वाभाविक होता है। इसमें न कोई कठोरता है, न कुछ छोड़ना पड़ता है, न कुछ मानो अपने में से छिन्न-भिन्न करना पड़ता है और न कोई हमसे कुछ ज़बरदस्ती छीन ही सकता है। भक्त का

त्याग सरल, सहज तथा अत्यन्त स्वाभाविक होता है। कहा जा सकता है कि विकृत रूप में त्याग का स्वरूप हमें रोज ही यत्रतत्र दिखाई देता है। उदाहरणार्थ, एक मनुष्य एक स्त्री से प्रेम करता है। थोड़े समय के बाद वह दूसरी स्त्री से प्रेम करने लगता है और पहली स्त्री को छोड़ देता है। वह सहज रूप ही उसके मन से हट जाती है और फिर उस मनुष्य को उसकी याद भी नहीं आती। इसी प्रकार एक स्त्री एक मनुष्य से प्रेम करती है; कुछ दिनों बाद वह दूसरे मनुष्य से प्रेम करने लगती है और पहला आदमी उसके मन से सहज ही उतर जाता है। इसी तरह एक आदमी को अपने शहर से प्यार होता है। फिर वह अपने देश को प्यार करने लगता है और ऐसा होने से उसके हृदय में उसके शहर के प्रति जो उत्कट प्रेम था वह धीरे धीरे निकल जाता है। फिर धीरे धीरे वही मनुष्य समस्त संसार को प्यार करने लगता है और इससे उसका अपने देश के प्रति प्रबल तथा उन्मत्त प्रेम चला जाता है। इससे उसे न तो कष्ट होता है और न इसमें किसी प्रकार की ज़ोर ज़बरदस्ती ही होती है। एक मूर्ख आदमी इन्द्रिय-सुखों में उन्मत्त रहता है। परन्तु जैसे जैसे वह धीरे धीरे शिक्षित होता जाता है वैसे वैसे उसे ज्ञानचर्चा में अधिक सुख मिलता है और उसके विषयभोग भी धीरे धीरे कम होजाते हैं। एक कुत्ता अथवा भेड़िया जितने स्वाद से अपना भोजन करता है उतना आनंद शायद किसी मनुष्य को अपने भोजन में न आता होगा। परन्तु जो आनंद मनुष्य को बुद्धि द्वारा अनेक प्रकार से प्राप्त होता

है उसका अनुभव एक कुत्ता कभी नहीं कर सकता। आरम्भिक दशा में मनुष्य का सुख इन्द्रियजन्य होता है; परन्तु ज्यों ज्यों प्राणी उच्चतर अवस्था को प्राप्त होता जाता है त्यों त्यों इन्द्रियजन्य सुखों में उसकी आसक्ति कम होती जाती है। मानव समाज में मनुष्य की प्रवृत्ति जितनी पशुवत् होगी, उतनी ही तीव्रता से वह इन्द्रियजन्य सुखों का अनुभव करेगा। परन्तु दूसरी ओर, मनुष्य जितना ही शिक्षित तथा उच्च अवस्था को प्राप्त होगा उतना ही उसे बुद्धि सम्बन्धी तथा इसी प्रकार की अन्य सूक्ष्म बातों में आनन्द प्राप्त होगा। इस प्रकार जब मनुष्य बुद्धि तथा मनोवृत्ति के अतीत हो जाता है और आध्यात्मिक तथा ईश्वरानुभूति के क्षेत्र में विचरता है तो उसे वहाँ ऐसा अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है कि उसके समक्ष सारे इन्द्रियजन्य तथा बुद्धि सम्बन्धी सुख बिलकुल तुच्छ प्रतीत होते हैं। जब चन्द्रमा पूर्ण रूप से प्रकाशित होता है तो नक्षत्र धुंधले पड़ जाते हैं, परन्तु सूर्य के प्रकट होने से चन्द्रमा स्वयं ही निष्प्रभ हो जाता है। भक्ति के लिए जिस वैराग्य की आवश्यकता होती है उसके प्राप्त करने के लिए किसी का नाश करने की आवश्यकता नहीं है। वह वैराग्य तो स्वभावतः ही आ जाता है। जैसे तेज़ प्रकाश के सामने मन्द प्रकाश धीरे धीरे स्वयं ही धुंधला होता जाता है, यहाँ तक कि अन्त में वह बिलकुल विलीन हो जाता है इसी प्रकार इन्द्रियजन्य तथा बुद्धिजन्य सुख ईश्वर प्रेम के समक्ष धुंधले होकर निष्प्रभ हो जाते हैं। यही ईश्वर-प्रेम समय पाकर वृद्धि को प्राप्त होता है और पराभक्ति का रूप ग्रहण

कर लेता है। जिस व्यक्ति को इस ईश्वर-प्रेम का आनंद प्राप्त हो जाता है उसके लिए अनुष्ठान तथा ग्रन्थों की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। प्रतिमा, मन्दिर, गिरजे, धर्म-सम्प्रदाय, देश तथा जाति आदि छोटे छोटे बन्धन स्वयं ही दूर हो जाते हैं और फिर कोई ऐसी चीज़ रह ही नहीं जाती जो उसे या उसकी स्वतंत्रता को बन्धन में डाल सके। जिस प्रकार किसी एक बड़े भारी चुम्बक की चट्टान के पास एक जहाज़ के आ जाने से उस जहाज़ की सारी कीलें तथा लोहे की छड़ें खिंचकर निकल आती हैं और जिसके फल स्वरूप जहाज़ के तख्ते आदि छिन्न-भिन्न होकर अलग अलग तैरने लगते हैं इसी प्रकार प्रभु की कृपा से मानवी आत्मा के समस्त बन्धन दूर हो जाते हैं और वह स्वयं मुक्त हो जाती है। अतएव भक्ति के वैराग्य में न तो किसी प्रकार की सख्ती है, न शुष्कता और न किसी प्रकार की ज़बरदस्ती ही। भक्त के लिए यह आवश्यक नहीं होता कि वह अपने किसी भी भाव का दमन करे; वह तो सब भावों को केवल प्रबल करके ईश्वर की ओर ही लगा देता है।

---

१२. भक्त का वैराग्य—प्रेमजन्य

प्रकृति में सर्वत्र हम प्रेम का विकास देखते हैं। मानव समाज में जो कुछ सुन्दर तथा महान् है वह सब प्रेम का ही फलस्वरूप है और जो कुछ खराब ही नहीं बल्कि पैशाचिक भी है वह भी उसी प्रेमभाव का विकृत स्वरूप है। पति-पत्नी का विशुद्ध दाम्पत्य-प्रेम तथा नीच से नीच पाशविक प्रेम दोनों एक ही भाव के विकास हैं। भाव दोनों में एक ही है परन्तु भिन्न अवस्था में उसका रूप भिन्न भिन्न है। इसी भाव द्वारा एक ओर तो मनुष्य इस बात के लिए प्रेरित होता है कि वह दूसरे के साथ भलाई करे तथा अपना सर्वस्व दान कर दे, और दूसरी ओर एक मनुष्य अपने भाइयों का गला काटकर उनकी सारी सम्पत्ति हर लेता है। प्रथम व्यक्ति दूसरों के प्रति जितना प्रगाढ़ प्रेम रखता है उतना ही यह दूसरा मनुष्य स्वयं के लिए। प्रथम दशा में प्रेम का प्रयोग ठीक तथा उचित होता है, परन्तु दूसरी दशा में वही प्रेम निन्दनीय हो जाता है। जो आग हमारे लिए भोजन पकाती है वह एक बच्चे को जला भी देती है। किन्तु इसमें आग का कोई दोष नहीं। भेद इसी में है कि आग का प्रयोग होता कैसे है। अतएव हम यह देखते हैं कि यह प्रेम, यह प्रबल आसंग-स्पृहा, दो व्यक्तियों के एक हो जाने की उत्कट इच्छा और यहाँ तक कि सभों की एक में मिल जाने की तीव्र आकांक्षा, ये सभी उत्तम अथवा अधम भाव में सर्वत्र ही प्रकाशित रहते हैं।

भक्तियोग उच्चतर प्रेम का विज्ञान है। वह हमें प्रेम के यथार्थ पथ पर चलने को तैयार करता है, उसे अपने आधीन रखने की शिक्षा देता है, हमें यह ज्ञान देता है कि उसका सद्व्यवहार किस प्रकार करना चाहिए तथा उसे नवीन ध्येय में कैसे लगाना चाहिए एवं इसके द्वारा श्रेष्ठ तथा महत्तम फल अर्थात् जीवन्मुक्त अवस्था किस प्रकार प्राप्त करनी चाहिए। भक्तियोग हमें किसी वस्तु के त्याग करने की शिक्षा नहीं देता; यह हमें यही सिखाता है कि हम "उस परम-पुरुष में आसक्त हों।" और जो उस परमपुरुष के प्रेम में उन्मत्त होते हैं उनकी स्वभावतः नीच विषयों में प्रवृत्ति नहीं रह जाती।

"प्रभो, मैं तुम्हारे बारे में और कुछ नहीं जानता, केवल यही जानता हूँ कि तुम हमारे हो। तुम सुन्दर हो, अत्यन्त सुन्दर हो, साक्षात् सौन्दर्य तुम्हीं हो!" सच पूछा जाय तो हमारे लिए इस योग में जिस चीज़ की आवश्यकता है वह यह है कि हमारी सौन्दर्य-पिपासा केवल ईश्वर के प्रति होनी चाहिए। मनुष्यशरीर, आकाश, नक्षत्र तथा चन्द्रमा में जो सौन्दर्य है वह क्या है? वह उस परमेश्वर के सर्वव्यापी दैवी सौन्दर्य का अंश मात्र है। "उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित होते हैं।" * उसी का तेज सब वस्तुओं में है। भक्ति की इस उच्च अवस्था को प्राप्त करो और इससे तुम अपना क्षुद्र व्यक्तित्व शीघ्र ही भूल जाओगे। छोटे छोटे सांसारिक स्वार्थों का त्याग कर दो। केवल मानव-जाति को ही यह न समझ बैठो कि

---

*तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। —कठोपनिषद्, २।२।१५

वह तुम्हारे समस्त मानवी और उससे उच्चतर ध्येयों का केन्द्र है। तुम तो केवल एक दर्शक तथा जिज्ञासु की तरह खड़े रहो और प्रकृति की लीलाएँ देखते जाओ। मनुष्य के प्रति आसक्ति-रहित हो और फिर देखो कि जगत् में यह प्रबल प्रेम-प्रवाह किस प्रकार अपना कार्य करता है। कभी कभी एकआध धक्का भी लगता है, परन्तु परम प्रेम की प्राप्ति के मार्ग में वह धक्का एक आनुषंगिक क्रिया मात्र है। कभी कभी थोड़ा द्वन्द्व या पदस्खलन भी होता है, परन्तु ये सब साधारण बातें हैं। तुम तो एक ओर खड़े रहो और इन द्वन्द्वों को, यदि वे आते हैं, तो आने दो। ये द्वन्द्व तुम्हें उसी समय खटकेंगे जब तुम संसार-सागर की धार में पड़े होगे। परन्तु जब तुम इसके बाहर निकल आओगे और केवल एक दर्शक के रूप में रह जाओगे तो तुम्हें यह प्रतीत होगा कि ईश्वर अपने को प्रेमस्वरूप में अनन्त प्रकार से प्रकट करता है।

"जहाँ कहीं थोड़ा भी आनंद प्रतीत होता है, चाहे वह घोर विषयानंद ही क्यों न हो, वहाँ अनंत आनंदस्वरूप भगवान् का अंश अवश्य होता है।" निम्नतम आसक्ति में भी ईश्वरी प्रेम का अंश रहता है। संस्कृत भाषा में प्रभु का एक नाम 'हरि' भी है और इसका अर्थ है कि वह प्रत्येक वस्तु को आकर्षित कर लेते हैं (हर लेते हैं)। असल में हमारे प्रेम के वही एक उपयुक्त पात्र हैं। आत्मा को और कौन आकर्षित कर सकता है? केवल वही! क्या तुम यह सोचते हो कि निर्जीव जड़ वस्तु आत्मा को आकर्षित कर सकती है?

इसने न कभी किया है और न करेगी। जब तुम किसी मनुष्य को किसी सुन्दर मुख पर आसक्त देखते हो तो क्या तुम यह समझते हो कि उसको आसक्त करने वाली चीज़ केवल अस्थि, मज्जा, मांस आदि जड़ परमाणु ही हैं? नहीं, ऐसा नहीं! उन परमाणुओं मे निश्चय दैवी शक्ति तथा दैवी प्रेम व्याप्त रहता है और वही उसे आकर्षित करता है। अबोध मनुष्य यह सब नहीं जानता। परन्तु फिर भी ज्ञान अथवा अज्ञानवश उसका आकर्षण उसी शक्ति द्वारा होता है। अतएव नीचतम वस्तुओं की भी आकर्षण शक्ति दैवी ही है। "ऐ प्रिये, कोई स्त्री अपने पति को पति होने के कारण प्रेम नहीं करती; पति के अन्तरस्थ आत्मा के लिए ही वह उसे चाहती है।"* प्रेमी पत्नियाँ चाहे यह जानती हों अथवा नहीं परन्तु है यह सत्य। "ऐ प्रिये, इसी प्रकार कोई मनुष्य अपनी स्त्री को स्त्री होने के कारण प्रेम नहीं करता, परन्तु स्त्री के अन्तरस्थ आत्मा के लिए ही उसे प्यार करता है।"‡ इसी प्रकार कोई अपने बच्चे अथवा संसार में अन्य किसी चीज़ को प्रेम नहीं करता और यदि करता है तो उसकी अन्तरस्थ आत्मा के लिए ही। ईश्वर एक बड़े भारी

---

*न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। —बृहदारण्यक, २।४

‡न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। —बृहदारण्यक, २।४

चुम्बक के समान हैं और हम सब लोहे की रेत के सदृश हैं। हम उससे निरन्तर आकर्षित होते रहते हैं और हम सब उसे प्राप्त करने का ही यत्न करते रहते है। संसार में हमारा यह सतत यत्न हमारे स्वार्थ के लिए नहीं है। मूर्खों को यह ज्ञात नहीं कि वे क्या कर रहे हैं; उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य तो यही है कि वे उस ईश्वररूपी बड़े चुम्बक के पास पहुँच जायँ। हमारे कठोर जीवनसंग्राम का उद्देश्य यही है कि हम उसके पास पहुँच जायँ और अन्त में उससे मिलकर एक हो जायँ।

भक्तियोगी को इस जीवन-संग्राम का अर्थ स्पष्ट है, वह इसे भलीभाँति जानता है। वह ऐसे तमाम संग्रामों में से पार हो चुका है और उसे मालूम है कि वे क्या हैं। वह उनके द्वन्द्वों से छुटकारा पाने का भरसक यत्न करता है। किसी प्रकार के विषयाकर्षण से वह दूर ही रहना चाहता है और समस्त आकर्षणों के मूलकारण स्वरूप 'हरि' के निकट सीधा जाने का इच्छुक रहता है। यही भक्त का त्याग है। ईश्वर के प्रति इस शक्तिशाली आकर्षण से अन्य सब आकर्षण नष्ट हो जाते हैं और ईश्वर के प्रति इस प्रबल प्रेम के हृदय में प्रवेश कर जाने से फिर वहाँ अन्य किसी प्रेम की गुंजाइश नहीं रह जाती। और रहे भी कैसे? भक्ति उसके हृदय को ईश्वररूपी प्रेमसागर के दैवी जल से भर देती है और इस प्रकार फिर उसमें क्षुद्र प्रेमों के लिए स्थान ही नहीं रह जाता। तात्पर्य यह कि भक्त

का वैराग्य जो ईश्वर के अतिरिक्त अन्य सब वस्तुओं में अनासक्ति स्वरूप है ईश्वर के प्रति अनुराग से उत्पन्न होता है।

पराभक्ति के प्राप्त्यर्थ उपरोक्त भाव का होना परमावश्यक है। जब इस प्रकार का वैराग्य आता है तो वह द्वार खुल जाता है जिसमें से होकर आत्मा पराभक्ति के उच्चतम शिखर को प्राप्त हो जाता है। तभी हमें यह बोध होता है कि पराभक्ति क्या है और जो पराभक्ति के राज्य में प्रवेश कर जाता है उसी को यह कहने का अधिकार है कि प्रतिमा-पूजन अथवा बाह्य नुष्ठान आदि, आध्यात्मिक लाभ के लिए आवश्यक नहीं हैं। वही प्रेम की उस उच्च अवस्था को प्राप्त कर लेता है जिसे हम साधारणतया विश्वबन्धुत्व कहते हैं। बाकी तो बस कोरी बातचीत ही है। उसमें फिर भेदभाव नहीं रह जाता। उसमें अथाह प्रेमसिन्धु भर जाता है और फिर उसे मनुष्य में केवल मनुष्य ही नहीं दीखता, वरन् सर्वत्र उसे अपना प्रियतम ही दिखाई देता है। प्रत्येक मुख में उसे 'हरि' ही दिखाई देते हैं। सूर्य अथवा चन्द्र का प्रकाश उसी का विकास है। जहाँ कहीं सौन्दर्य तथा महानता दिखाई देती है वहाँ उसकी दृष्टि में वह सब ईश्वर का ही है। ऐसे भक्त आज भी हैं, संसार उनसे रिक्त नहीं है। ऐसे भक्तों को यदि एकबार साँप भी काट ले तो वे यही कहेंगे कि मेरे प्रियतम (ईश्वर) का एक दूत आया था। केवल ऐसे ही पुरुषों को अधिकार है कि वे विश्वबन्धुत्व की चर्चा करें; उनके

हृदय में क्रोध, घृणा अथवा ईर्ष्या कभी प्रवेश ही नहीं करती। उनमें जो कुछ बाह्य अथवा इन्द्रियग्राह्य है, नष्ट हो जाता है। उन्हें क्रोध आ ही कैसे सकता है जब कि वे अपने प्रेमबल द्वारा अतीन्द्रिय सत्य को सर्वदा देखते रहते हैं।

---

१३. भक्तियोग की स्वाभाविकता

तथा

उसका रहस्य

भगवान् श्रीकृष्ण से अर्जुन पूछते हैं, "हे प्रभो, जो तुम्हें सतत भजता है तथा जो अव्यक्त, निर्गुण का उपासक है इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है?" $ श्री भगवान् ने कहा, "हे अर्जुन, मेरे में

$ **अर्जुन उवाच**–एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥

श्रीभगवानुवाच–मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

—गीता, १२।१-७

मन को एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यान में लगे हुए जो भक्त-जन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त हुए मुझ सगुणरूप परमेश्वर को भजते हैं, वे मेरे को योगियों में भी अति उत्तम योगी के रूप में मान्य हैं, अर्थात् मैं उनको अतिश्रेष्ठ मानता हूँ। और जो पुरुष इन्द्रियों के समुदाय को पूर्ण वश में करके मन-बुद्धि से परे सर्वव्यापी अकथनीयस्वरूप और सदा एकरस रहने वाले नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी सच्चिदानंदघन ब्रह्म को निरन्तर एकीभाव से ध्यान करते हुए उपासते हैं वे समस्त भूतों के हित में रत हुए और सब में समान भाव वाले योगी भी मेरे को ही प्राप्त होते हैं। किन्तु उन सच्चिदानंदघन निराकार ब्रह्म में आसक्त चित्त वाले पुरुषों के (साधन में) क्लेश अर्थात् परिश्रम विशेष है, क्योंकि देहाभिमानियों द्वारा अव्यक्त विषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है—अर्थात् जब तक शरीर में अभिमान रहता है तब तक शुद्ध सच्चिदानंदघन निराकार ब्रह्म में स्थिति होनी कठिन है। और जो मेरे परायण हुए भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को मेरे में अर्पण करके मुझको अनन्य ध्यान तथा योग से निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे अर्जुन, मेरे में चित्त लगाने वाले उन प्रेमी भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्यु रूपी संसार-समुद्र से उद्धार करने वाला होता हूँ।" उपरोक्त कथन में ज्ञानयोग तथा भक्तियोग दोनों का दिग्दर्शन कराया गया है तथा दोनों की व्याख्या की गई है। ज्ञान-योग अवश्य ही अति श्रेष्ठ मार्ग है। उच्च तत्त्वज्ञान उसका प्राण है और आश्चर्य की बात यह है कि प्रत्येक मनुष्य यह सोचता है कि

वह ज्ञानयोग के आदर्शानुसार चलने में समर्थ है। परन्तु वास्तव में ज्ञानयोग-साधना बड़ी कठिन है। ज्ञानयोग के पथ पर चलने में हमारे गड्ढे में गिर जाने की बड़ी आशंका रहती है।

कहा जा सकता है कि इस संसार में दो प्रकार के मनुष्य होते हैं। एक तो आसुरी प्रकृति वाले, जिनकी दृष्टि में उनके शरीर का पालन पोषण ही सर्वस्व है और दूसरे दैवी प्रकृति वाले जिनकी यह धारणा रहती है कि शरीर किसी एक विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए केवल एक साधन तथा आत्मोन्नति के लिए एक यंत्रविशेष है। शैतान अपनी कार्यसिद्धि के लिए झट से शास्त्रों को उद्धृत कर देता है और इस प्रकार बुरे मनुष्य के कृत्यों के लिए भी ऐसा प्रतीत होता है कि शास्त्र उसी प्रकार साक्षी हैं जैसे कि एक सत्पुरुष के शुभ कार्य के लिए। ज्ञानयोग में यही एक बड़े डर की बात है। परन्तु भक्तियोग स्वाभाविक तथा मधुर है। भक्त उतनी ऊँची उड़ान नहीं उड़ता जितना कि एक ज्ञानयोगी और इसीलिए उसको बड़े खड्डों में भी गिरने की आशंका नहीं रहती। धार्मिक मनुष्य किसी भी पथ पर क्यों न चले, जब तक आत्मा के सब बन्धन छूट नहीं जाते तब तक वह मुक्त नहीं होता।

निम्नोक्त श्लोक से यह स्पष्ट होता है कि किस प्रकार भाग्य-शालिनी गोपियाँ पाप और पुण्य के बन्धनों से मुक्त हो गई थीं। भगवच्चिन्तन के अत्यानंद से उनके समस्त पुण्यकर्म-जनित बन्धन

छूट गए तथा अप्राप्ति जनित महा दुःख द्वारा उनके समस्त पाप धुल गए और इस प्रकार वे मुक्त हो गईं। †

अतएव भक्तियोग का रहस्य यह है:—मनुष्य के हृदय में जो भावनाएँ तथा वासनाएँ उत्पन्न होती हैं वे स्वयं दूषित नहीं हैं, वरन् बात इतनी ही है कि उनका धीरे-धीरे नियंत्रण करते हुए उन्हें शनैः शनैः उच्च ध्येय की ओर लगाते रहना चाहिये जब तक कि वे परमोच्च दशा को प्राप्त न हो जायँ। सर्वश्रेष्ठ पथ वह है जो हमें ईश्वर की ओर ले जाता है। अन्य सब पथ निम्न श्रेणी के हैं। हम देखते हैं कि हमारे जीवन में सुखदुःख सर्वदा लगे ही रहते हैं। जब एक मनुष्य यह सोचता है कि धनाभाव अथवा अन्य किसी ऐसी सांसारिक वस्तु के कारण उसे क्लेश है तो हम कह सकते हैं कि वह अपनी भावनाओं को गलत मार्ग पर ले जा रहा है। परन्तु फिर भी दुःख कभी कभी सहाय्य भी होते हैं। यदि मनुष्य इस बात के लिए दुःख करने लगे कि अब तक उसे परमात्मा का लाभ नहीं हुआ है तो वह दुःख उसकी मुक्ति का हेतु बन जायगा। जब कभी तुम्हें

† तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा।
तदप्राप्तिमहद्दुःखविलीनाशेषपातका॥
चिन्तयन्ती जगत्पतिं परब्रह्मस्वरूपिणम्।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गतान्या गोपकन्यका॥

—विष्णुपुराण, ५।१३।२१-२२

इस बात का आनंद होता है कि तुम्हारे पास कुछ धन है तो समझना चाहिए कि तुम्हारी आनंदवृत्ति ग़लत रास्ते पर जा रही है। इसे तो उच्चतर दिशा की ओर ले जाना चाहिए तथा इसे सर्वोच्च ध्येय—ईश्वर-प्राप्ति की ओर लगा देना चाहिए। इसी उच्च ध्येय के आनंद में हमें परम आनंद मानना चाहिए, और यही बात हमारी अन्य सब भावनाओं के सम्बन्ध में भी है। भक्त की दृष्टि से उनमें से एक भी ग़लत नहीं है; वह सब को ग्रहण कर लेता है और उन्हें सतत ईश्वर की ओर लगा देता है।

१४. भक्ति के अवस्था-भेद

प्रेम अपने को अनेक अवस्थाओं द्वारा प्रकट करता है।† उनमें से प्रथम है—श्रद्धा। लोग मन्दिरों तथा पवित्र स्थानों के प्रति श्रद्धा क्यों प्रकट करते हैं? कारण यह है कि वहाँ ईश्वर की उपासना होती है और ऐसे स्थानों में उसकी सत्ता अधिक प्रकट होती है। इसी प्रकार प्रत्येक देश में धर्म के आचार्यों के प्रति लोग श्रद्धा क्यों प्रकट करते हैं? कारण यह है कि ऐसा करना नितान्त स्वाभाविक है, क्योंकि ये सब आचार्यगण उसी ईश्वर की महिमा का उपदेश देते हैं। इस श्रद्धा का मूल प्रेम है। जिसे हम प्रेम नहीं करते उसके प्रति श्रद्धा नहीं रख सकते। इसके बाद प्रीति है अर्थात् ईश्वर में आनंद। मनुष्य विषयों में कितना आनंद मनाता है! उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए जिसे इन्द्रियाँ चाहती हैं लोग कहाँ कहाँ फिरते तथा कितनी जोखमों में पड़ते हैं। भक्त को चाहिए कि वह ईश्वर के प्रति इसी प्रकार का प्रेम करे। इसके उपरान्त विरह आता है। यह प्रेमी के अभाव में उत्पन्न होता है तथा सब दुःखों में अत्यन्त मधुर है। जब मनुष्य ईश्वर को न प्राप्त कर सकने के कारण अत्यन्त दुःखित होता है तथा ईश्वर, जो एकमात्र जानने योग्य वस्तु है, उसे नहीं जान

---

† सन्मानबहुमानप्रीतिविरहेतर-विचिकित्सा महिमख्यातितदर्थ प्राणस्थानतदीयता सर्वतद्भावाप्रातिकूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो बाहुल्यात्।

—शाण्डिल्यसूत्र, २।१।४४

पाता है और फलस्वरूप अत्यन्त व्याकुल हो पागल के सदृश हो जाता है तो उस दशा को विरह कहते हैं और इस दशा में ईश्वर को छोड़कर उसे और कोई चीज़ अच्छी नहीं लगती (एकरति विचिकित्सा)। सांसारिक प्रणय में यह विरह बहुधा देखा जाता है। संसार में जब स्त्री-पुरुष का पारस्परिक प्रगाढ़ प्रेम होता है तो अन्य किसी ऐसे पुरुष की उपस्थिति जो उनके मन का नहीं होता, उन्हें अच्छी नहीं लगती। ठकि इसी प्रकार जब पराभक्ति, हृदय पर अपना प्रभाव जमा लेती है तो अन्य विरोधी विषयों की उपस्थिति हमें अप्रिय लगने लगती है, यहाँ तक कि ईश्वर के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों की बातचीत भी हमें अच्छी नहीं लगती। "केवल उसी का ध्यान करो और अन्य बातें छोड़ दो।"‡ जो लोग केवल उसी की चर्चा करते हैं वे भक्त के मन के होते हैं, और जो लोग अन्य विषयों की चर्चा करते हैं वे उसके अप्रिय होते हैं। इस प्रेम की उच्चतर दशा उस समय प्राप्त होती है जब इस शरीर का धारण केवल ईश्वर की उपासना के लिए होता है तथा उसी के प्रेम के निमित्त जीवन सुन्दर तथा उपयुक्त माना जाता है; उसके अभाव में इस प्रकार का जीवन क्षणभर भी नहीं रह सकता। ईश्वर-चिन्तन मे ही जीवन का माधुर्य प्रतीत होता है। इस अवस्था का नाम 'तदर्थ प्राणस्थान' है।

---

‡ तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः।

—मुण्डकोपनिषद्, २।२।५

तदीयता उसी समय आती है जब साधक भक्ति-मत के अनुसार पूर्णावस्था को प्राप्त हो जाता है, जब वह शुद्धानंद से भर जाता है, जब उसे ईश्वरप्राप्ति हो जाती है और जब मानो वह ईश्वर का चरण-स्पर्श कर लेता है। तब उसकी प्रकृति विशुद्ध तथा सम्पूर्ण रूप से परिवर्तित हो जाती है। तब उसके जीवन के सब ध्येय पूरे हो जाते हैं। तथापि इस प्रकार के अनेक भक्त केवल उसकी उपासना के लिए ही जीवन धारण किये रहते हैं। उनके जीवन का वही एक सुख और आनंद रहता है जिसे वे छोड़ना नहीं चाहते। 'हे राजन्! प्रभु के ऐसे मनोहर गुण हैं कि वे लोग भी जो संसार की सब वस्तुओं से तृप्त हो गये हैं तथा जिनके हृदय की सब ग्रन्थियाँ खुल गयी हैं, (वे भी) ईश्वर की निष्काम-भक्ति करते हैं।"‡ ('जिन प्रभु की समस्त देवता, मुमुक्षु तथा ब्रह्मवादी उपासना करते हैं।'*) ऐसा प्रेम का प्रभाव है। जब मनुष्य स्वयं को बिलकुल भूल जाता है और जब उसे यह भी ज्ञान नहीं रहता कि उसकी कोई भी चीज़ अपनी है तब वह 'तदीया' की अवस्था को प्राप्त होता है। उस समय उसके लिए सब कुछ पवित्र हो जाता है, क्योंकि सर्वस्व उसके प्रेमास्पद ईश्वर

---

‡ आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः। —श्रीमद्भागवत, १।७।१०

* यं सर्वे देवा नमस्यन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च।
—नृसिंह० उपनिषद्, ५।२।१५

का ही है। संसारिक प्रेमी भी अपनी प्रेमिका की प्रत्येक वस्तु को बड़ी प्रिय और पवित्र मानता है। अपनी प्रणयिनी के कपड़े के एक छोटे से टुकड़े को भी वह बड़ा प्यार करता है। इसी प्रकार जब एक मनुष्य ईश्वर को प्रेम करने लगता है तो उसके लिए समस्त संसार प्रिय हो जाता है, क्योंकि वह संसार उसी का है।

---

१५. विश्वप्रेम

बिना समष्टि को प्रेम किये हम व्यष्टि को कैसे प्रेम कर सकते हैं? ईश्वर ही समष्टि अर्थात् एक अखण्ड स्वरूप में समस्त विश्व है, और इस विश्व को यदि हम पृथक् पृथक् रूप में देखें तो यह व्यष्टि हो जाता है। समष्टि अर्थात् उस सर्वव्यापी को, जिस एक अखण्ड वस्तु में असंख्यात छोटी छोटी वस्तुएँ हैं, प्रेम करने से ही समस्त विश्व का प्रेम करना सम्भव है। भारतीय दार्शनिक छान बीन (व्यष्टि) पर ध्यान नहीं देते; वे तो एक प्रकार से सिंहावलोकन करके तुरन्त ही उस बृहत् व्यापक रूप (समष्टि) पर अपनी दृष्टि डालते हैं जिसके अन्तर्गत ये छोटी छोटी बातें स्वयं ही आ जाती हैं। समस्त विश्वव्यापी भाव की खोज करना ही भारतीय दर्शन तथा धर्म का लक्ष्य है। जिसको जान लेने से सब कुछ जाना जा सकता है उसी एक समष्टिभूत, निरपेक्ष सर्वव्यापी पुरुष को ही ज्ञानी अपना लक्ष्य मानता है। भक्त भी उसी सर्वव्यापी साक्षात् पुरुष की अनुभूति करने का इच्छुक होता है जिसके प्रेम करने से ही वह समस्त विश्व को प्रेम कर लेता है। इसी प्रकार योगी भी उसी मूलभूत शक्ति को प्राप्त करने की चेष्टा करता है जिस पर विजय प्राप्त कर लेने से वह समस्त विश्व को जीत लेता है। भारतवासियों के मन का अध्ययन करने से, चाहे वह जड़ विज्ञान में लगा रहा हो, चाहे मनोविज्ञान में, चाहे भक्ति अथवा दर्शनशास्त्र में, हमें यही प्रतीत होता है कि

वह सदैव इन सभों में एकत्व की खोज की ओर ही लगा रहा है। अतएव भक्त इस निष्कर्ष को प्राप्त होता है कि यदि तुम इस संसार में एक के बाद दूसरे आदमी को प्रेम करते जाओ तो चाहे तुम इस क्रिया को अनन्त काल तक करते रहो तो भी समस्त संसार को एकरूप मानकर तुम प्रेम नहीं कर सकते, किन्तु अन्त में जब यह मूल सत्य समझ में आ जाता है कि सब प्रेमों का समष्टि स्वरूप ईश्वर ही है तथा मुक्त, मुमुक्षु एवं बद्ध समस्त आत्माओं की आकांक्षाओं का समष्टि स्वरूप वही है तो फिर किसी भी व्यक्ति में विश्वप्रेम करने की शक्ति उत्पन्न हो सकती है। ईश्वर समष्टि स्वरूप है और यह गोचर जगत् ईश्वर का परिच्छिन्न तथा अभिव्यक्त स्वरूप मात्र है। समष्टि के प्रेम करने में ही हम प्रत्येक वस्तु को प्रेम करने लगते हैं। विश्व को प्रेम करना तथा उसके प्रति उपकार करना आदि यह सब फिर स्वयं ही आ जायगा। इस शक्ति को प्राप्त करने के लिए हमें पहले ईश्वर के प्रति प्रेम करना चाहिये, नहीं तो विश्व के प्रति उपकार करना कोई हँसी नहीं है। भक्त की यह धारणा हो जाती है कि, " सब कुछ उसीका है, और वही मेरा प्रेमी है। मैं उसे प्रेम करता हूँ।" और इस प्रकार भक्त की दृष्टि में प्रत्येक वस्तु पवित्र हो जाती है, क्योंकि सर्वस्व उसीका है। सब उसीकी सन्तान, अंग-स्वरूप तथा विकास मात्र हैं। फिर हम किसी को कष्ट क्यों पहुँचाएँ तथा किसी को प्रेम किए बिना कैसे रहें? ईश्वर के प्रेम के साथ हमारे हृदय में प्रत्येक के प्रति प्रेम निश्चय उत्पन्न होगा। हम

भगवान् की ओर जितने अग्रसर होंगे उतना ही हमें उसमें प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व प्रतीत होगा। जब जीवात्मा इस प्रेमानंद के सम्भोग से कृतकृत्य हो जाता है तो उसे प्रत्येक वस्तु में भी ईश्वर प्रतीत होने लगता है और इस प्रकार हमारा हृदय प्रेम का एक अनन्त स्रोत बन जाता है। और इसके अनन्तर जब हम इस प्रेम की उच्चतर अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं तो संसार की सब वस्तुओं में छोटे छोटे भेदभाव समूल नष्ट हो जाते हैं। मनुष्य मनुष्य के रूप में प्रतीत न होकर ईश्वर सदृश दीखता है और इसी प्रकार पशु, यहाँ तक कि एक चीता भी केवल ईश्वर का ही विकास स्वरूप प्रतीत होता है। इस प्रकार, भक्ति की इस प्रगाढ़ अवस्था में सभी प्राणी हमारे लिए उपास्य हो जाते हैं। "हरि को सब भूतों में अवस्थित जानकर ज्ञानी को सभों के प्रति अव्यभिचारिणी भक्ति रखनी चाहिए।" || इस प्रगाढ़ सर्वग्राही प्रेम का फल पूर्ण आत्मनिवेदन होता है, और तब यह धारणा हो जाती है कि इस विश्व में जो कुछ होता है वह हमारे अनिष्ट के लिए नहीं है। इसी को 'अप्रातिकुल्य' कहते हैं। तब तो वही प्रेमी-पुरुष इस योग्य हो जाता है कि यदि उसे दुःख होता है तो उसके लिए भी 'स्वागत' कहता है; यदि क्लेश आता है तो कहता है 'स्वागत', आओ तुम भी मेरे प्रेमी ईश्वर के पास से ही आये हो। यदि एक साँप

|| एवं सर्वेषु भूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी।
कर्तव्या पण्डितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमयं हरिम् ॥

आता है तो उसके लिए भी 'स्वागत' कहता है; यहाँ तक कि यदि काल आता है तो उसका भी बड़ी प्रसन्नता से स्वागत करता है, और कहता है, "मैं धन्य हूँ जो ये सब मेरे पास आते हैं; इन सब का स्वागत है।" ईश्वर तथा उसकी समस्त वस्तुओं के प्रति प्रगाढ़ प्रेम द्वारा उत्पन्न भक्त की जब यह पूर्ण निर्भरता की अवस्था प्राप्त हो जाती है तो वह अपने सम्बन्ध में सुख-दुःख का भेद भूल जाता है और उसे यह ज्ञात ही नहीं होता कि दुःख अथवा क्लेश की शिकायत क्या चीज़ है; और इस प्रकार की प्रेम स्वरूप भगवान् की इच्छा में सम्पूर्ण निर्भरता की उपलब्धि संसार के समस्त यश तथा कीर्ति से कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

देखा जाता है कि अधिकतर मनुष्य अपने शरीर को बड़ा महत्व देते हैं। उनका शरीर ही मानो उनका समस्त संसार है और शारीरिक सुख ही सर्वस्व। शरीर तथा शरीरसम्बन्धी अन्य सब वस्तुओं की उपासना का रोग हम सभों में घुस गया है। हम चाहे जितनी बड़ी बड़ी बातें करें और चाहे जितनी ऊँची उड़ान लें, परन्तु फिर भी हम गिद्ध के सदृश ही रहते हैं। हमारी दृष्टि सदैव नीचे पड़े हुए सड़े मांस के टुकड़े पर ही रहती है। अच्छा, हम अपने शरीर का बचाव एक चीते से क्यों करें? हम इसे उसके भोजन के लिए ही क्यों न दे डालें? चीता उससे सन्तुष्ट हो जायगा और हम कह सकते हैं कि यह कार्य आत्मत्याग तथा उपासना से कुछ बहुत भिन्न नहीं है। क्या तुम ऐसे भाव की अनुभूति कर सकते

हो जिसमें अहंभाव समूल नष्ट हो गया हो? प्रेमधर्म का यह एक अत्यन्त उच्च शिखर है और उस तक बहुत थोड़े ही लोग पहुँच सके हैं। जब तक मनुष्य इस आत्म-त्याग के लिए अन्तःकरण से तत्पर नहीं होता तब तक वह पूर्ण भक्त नहीं हो सकता। हम अपने इस पंचभौतिक शरीर को चाहे अल्प अथवा अधिक समय तक के लिए भले ही सुखपूर्वक रख लें, परन्तु हमारे शरीर का एक न एक दिन नाश होना अवश्यम्भावी है। उसका अस्तित्व चिरस्थायी नहीं है। वे धन्य हैं, जिनका शरीर दूसरों की सेवा में अर्पण हो जाता है। "एक साधु पुरुष केवल अपनी सम्पत्ति ही नहीं वरन् अपना शरीर भी दूसरों की सेवा में लगा देने के लिए सदैव उद्यत रहता है। इस संसार में जब मृत्यु निश्चय है तो श्रेष्ठ यही है कि यह शरीर किसी नीच कार्य की अपेक्षा किसी उत्तम कार्य में ही अर्पित हो जाय।" हम अपने जीवन को भले ही सौ या पचास वर्ष तक घसीट ले जायँ, परन्तु तदुपरान्त क्या होता है? किसी भी वस्तु का, जो किसी के मिश्रण से उत्पन्न होती है, विश्लेषण तथा अन्त निश्चय है। एक समय ऐसा अवश्य आता है और आएगा जब वह विश्लिष्ट हो जायगी। ईसा मसीह, बुद्ध तथा मुहम्मद आदि आज कोई भी नहीं हैं; तथा संसार के समस्त श्रेष्ठ आचार्यगण भी परमधाम को पहुँच चुके हैं। भक्त का कथन है, "इस क्षणस्थायी जगत् में जहाँ कि प्रत्येक वस्तु क्रमशः क्षय हो रही है, हमें अपने समय का परम सदुपयोग कर लेना आवश्यक है।" और वास्तव में जीवन का सर्वश्रेष्ठ उपयोग

यह है कि इसे हम सब प्राणियों की सेवा में लगा दें। इस भयंकर देहात्मबुद्धि के कारण ही संसार में सारे स्वार्थ की उत्पत्ति होती है। हमारा यही बड़ा भारी भ्रम रहता है कि हमारा शरीर ही हम हैं और हमें यथाशक्ति सब साधनों द्वारा इसकी रक्षा तथा सेवा करना वांछित है। पर यदि तुम्हें यह ज्ञान हो जाता है कि तुम शरीर से नितान्त पृथक् हो तो फिर इस संसार में तुम्हारा किसी से द्वन्द्व नहीं रह जाता। स्वार्थ से तुम अतीत हो जाते हो। इस प्रकार भक्त का यह मत है कि हमें अपने को इस प्रकार समझ लेना चाहिये कि मानो हम संसार की सब वस्तुओं के लिए मृतप्राय से हैं और वास्तव में यही आत्मसमर्पण—शरणागति है। जो होता है उसे होने दो। 'तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो' इस बात का यही अर्थ है, न कि यह कि हम संसार में यत्र तत्र झगड़ा करते फिरें और सदैव यही सोचते रहें कि ईश्वरेच्छा के कारण ही हमारी दुर्बलता तथा सांसारिक आकांक्षाएँ हैं—निर्भरता का अर्थ यह नहीं। हो सकता है कि हमारे स्वार्थपूर्ण यत्नों के कारण हमारा भला हो जाता हो, परन्तु इसका कारण भगवान् ही जाने। पूर्ण भक्त को इससे कोई प्रयोजन नहीं। भक्त के हृदय से इस प्रकार की प्रार्थना निकलती है, "प्रभो, लोग तुम्हारे नाम से बड़े बड़े मन्दिर बनवाते है, बड़े बड़े दान देते हैं; परन्तु मैं तो निर्धन हूँ, मेरे पास कुछ नहीं है, अतएव मैं अपना यह शरीर ही आपके श्रीचरणों में समर्पित करता हूँ। प्रभो, आप मेरा त्याग न करें।" जिसने इसका अनुभव किया है उसके लिए

प्रभु के प्रति आत्मसमर्पण संसार की समस्त सम्पत्ति, शक्ति, प्रतिष्ठा तथा सौख्य से भी श्रेष्ठ है। भक्त के चित्त की शान्ति जो भगवान् की शरणागति से उत्पन्न होती है, हमारी बुद्धि से अतीत तथा अमूल्य है। इस 'अप्रातिकुल्य' अवस्था के प्राप्त हो जाने से कोई स्वार्थ शेष नहीं रह जाता और जब स्वार्थ ही नहीं रह जाता तो फिर विश्व में स्वार्थहानिकर कोई चीज़ ही नहीं रह जाती। इस परम निर्भरता की अवस्था में सब प्रकार की आसक्ति सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है, और रह जाती है केवल सब भूतों के अन्तरात्मा तथा आधारस्वरूप भगवान् के प्रति नितान्त प्रेमयुक्त आसक्ति। भगवान् के प्रति यह प्रेम जीवात्मा के लिए बन्धन स्वरूप नहीं होता बल्कि इसके द्वारा उसके सब बन्धन समूल नष्ट हो जाते हैं।

---

१६. पराविद्या तथा पराभक्ति दोनों एक हैं।

उपनिषदों में परा तथा अपरा विद्या में भेद बतलाया है। भक्त के लिए पराविद्या और पराभक्ति दोनों एक ही हैं। मुण्डक उपनिषद् में कहा है, "ब्रह्मज्ञानी के मतानुसार परा और अपरा ये दो प्रकार की विद्याएँ जानने योग्य हैं। अपराविद्या में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा (उच्चारणादि की विद्या), कल्प (यज्ञ-पद्धति) व्याकरण, निरुक्त (वैदिक शब्दसमूहों की व्युत्पत्ति तथा उसका अर्थ), छन्द और ज्योतिष आदि हैं; तथा पराविद्या द्वारा उस अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है।" † इस प्रकार पराविद्या स्पष्टतः ब्रह्मविद्या है। देवी भागवत में पराभक्ति की निम्नलिखित व्याख्या है- "जिस प्रकार से तेल की धार एक बर्तन से दूसरे बर्तन में अविच्छिन्न होकर गिरती है उसी प्रकार जब मन भगवान् के सतत चिन्तन में लग जाता है तो पराभक्ति की अवस्था प्राप्त हो जाती है।" ‡ इस प्रकार निरन्तर अविच्छिन्न आसक्ति सहित भगवान् के प्रति हृदय तथा मन का अविरत भाव ही मनुष्य के हृदय में सर्वोच्च ईश्वरी प्रेम का प्रकाश है। पराभक्ति अर्थात् रागानुगा भक्ति के लिए अन्य सब प्रकार की भक्ति केवल सोपान स्वरूप है। जब इस प्रकार

---

† द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च।
तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।

—मुण्डकोपनिषद्, १।१।४-५

‡ चेतसो वर्तनञ्चैव तैलधारासमं सदा। इत्यादि,—देवीभागवत, ७।३७।११

का अपार अनुराग मनुष्य के हृदय में उत्पन्न हो जाता है तो उसका मन निरन्तर ईश्वर-स्मरण में लग जाता है। उसे और किसी का ध्यान ही नहीं आता। ईश्वर के अतिरिक्त वह अपने मन में अन्य विचारों को स्थान ही नहीं देता और फलस्वरूप उसकी आत्मा शुद्धता के अभेद्य कवच से रक्षित हो जाती है तथा मानसिक एवं भौतिक समस्त बन्धनों को तोड़कर शान्त और मुक्त भाव से युक्त हो जाती है। ऐसा ही व्यक्ति अपने हृदय में ईश्वरोपासना करने में सफल होता है और उसके लिए समस्त प्रतिमा तथा प्रतीक, शास्त्र तथा मतमतान्तर अनावश्यक हो जाते हैं; उनके द्वारा उसे कोई लाभ नहीं होता। इस प्रकार भगवान् की उपासना सहज नहीं है। साधारणतया मानवी प्रेम वहीं वृद्धि पाता है जहाँ उसे दूसरी ओर से भी प्रतिदान मिलता है और जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ उदासीनता अपना अधिकार जमा लेती है। ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं जहाँ प्रतिदान के न होते हुए भी एक ही ओर से प्रेम की वृद्धि होती रहती हो। उदाहरणार्थ, ऐसा प्रेम हमें पतिंगे तथा दीपक में दीखता है; पतिंगा दीपक को प्रेम करता है, उसीमें गिर जाता है और प्राण भी दे देता है। असल में इस प्रकार प्रेम करना उसका स्वभाव ही है। केवल प्रेम के लिए ही प्रेम करना संसार में निस्सन्देह सर्वश्रेष्ठ और पूर्ण निःस्वार्थ स्वरूप है। इस प्रकार का प्रेम आध्यात्मिकता की नींव पर धीरे धीरे बढ़ता हुआ पराभक्ति की अवस्था को प्राप्त करा देता है।

---

१७. प्रेम-त्रिकोणात्मक

प्रेम की उपमा एक त्रिकोण से दी जा सकती है जिसका प्रत्येक कोण एक एक अविभाज्य गुण का सूचक है। जिस प्रकार बिना तीन कोण के एक त्रिकोण नहीं बन सकता उसी प्रकार निम्न-लिखित तीन गुणों के बिना सत्य प्रेम का होना असम्भव है। इस प्रेमरूपी त्रिकोण का पहला कोण तो यह है कि शुद्ध प्रेम में किसी प्रकार का क्रय-विक्रय नहीं होता। जहाँ कहीं एक वस्तु के बदले कोई दूसरी वस्तु वांछित होती है वहाँ सत्य प्रेम कभी नहीं हो सकता; वह तो एक प्रकार की दूकानदारी सी हो जाती है। अर्थात् जब तक हमारे हृदय में इस प्रकार की तनिक भी भावना रहती है कि ईश्वराराधना के बदले में हमें उससे किसी प्रकार का लाभ प्राप्त हो, तब तक हमारे हृदय में सत्य प्रेम का संचार नहीं हो सकता। जो लोग किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए ईश्वर की उपासना करते हैं उन्हें यदि वह चीज़ न मिले तो निश्चय ही वे उसकी आराधना नहीं करेंगे। भक्त ईश्वर को इसलिये प्रेम करता है कि केवल ईश्वर ही प्रेम किये जाने योग्य है। सच्चे भक्त के इस दैवी प्रेम का कोई उद्देश्य नहीं रहता। कथा प्रसिद्ध है कि एक बार एक राजा किसी वन को गया। वहाँ उसे एक साधु मिला। साधु से थोड़ी देर बातचीत करने पर राजा उसकी पवित्रता तथा ज्ञान पर बड़ा प्रसन्न हुआ। राजा ने उससे प्रार्थना की, "महाराज, यदि आप मुझसे कोई भेंट

ग्रहण कर लें तो मैं बड़ा कृतकृत्य होऊँगा।" परन्तु साधु ने इनकार कर दिया और कहा, "जंगल के फलफूल ही मेरे लिए पर्याप्त हैं, पहाड़ों से निकले हुए शुद्ध पानी के झरने मुझे पीने को पर्याप्त जल दे देते हैं, वृक्षों की छालें मेरे शरीर को ढकने के लिए काफी हैं और पहाड़ों की कंदराएँ मेरा सुन्दर घर हैं। मैं तुमसे अथवा अन्य किसी से कोई भेंट क्यों लूँ?" राजा ने कहा, "महाराज, केवल मुझे कृतार्थ करने के लिए ही मुझसे कुछ न कुछ स्वीकार कर लीजिए और कृपा कर मेरे साथ चलकर मेरी राजधानी तथा महल को पवित्र कीजिए।" विशेष आग्रह के बाद साधु ने अन्त में राजा की प्रार्थना स्वीकार कर ली और उसके साथ उसके महल को गए। साधु को भेंट देने के पहले राजा ने नियमानुसार अपनी दैनिक प्रार्थना की और कहा, "हे ईश्वर, मुझे सन्तान दो, सम्पत्ति दो, राज्य दो, स्वास्थ्य दो।"—आदि आदि। राजा अपनी प्रार्थना समाप्त भी नहीं कर पाया था कि साधु उठ खड़े हुए और चुपके से कमरे के बाहर चले गए। यह देखकर राजा बड़ा विस्मित हुआ और चिल्लाता हुआ साधु के पीछे भागा, "महाराज, आप कहाँ जा रहे हैं, आपने तो हमसे कोई भी भेंट ग्रहण नहीं की।" यह सुनकर वह साधु पीछे घूमकर राजा से बोला, "मैं भिखारियों से कुछ नहीं माँगता। तुम स्वयं केवल एक भिखारी ही हो और इसलिए तुम मुझे कुछ भी क्योंकर दे सकते हो! मैं ऐसा मूर्ख नहीं कि तुम्हारे जैसे भिखारी से कुछ लेने की इच्छा करूँ। जाओ, भाग

जाओ, मेरे पीछे मत आओ।" ईश्वर के सच्चे प्रेमियों तथा साधारण भिखारियों में बड़ा अन्तर है। प्रेमिकता तथा भिक्षाटन दोनों एक नहीं हैं। मुक्तिलाभ अथवा अन्य किसी प्राप्ति के लिए भी ईश्वर की उपासना करना बहुत श्रेष्ठ नहीं है। शुद्ध प्रेम में किसी प्रकार के लाभ की आकांक्षा नहीं होती। प्रेम केवल प्रेम के लिए ही होता है। भक्त प्रेम इसलिए करता है कि प्रेम करने के अतिरिक्त वह और कुछ कर ही नहीं सकता। जब तुम किसी अच्छे प्राकृतिक दृश्य को देखते हो और उस पर मोहित हो जाते हो, तो उस दृश्य से तुम किसी फल की याचना नहीं करते और न वह दृश्य ही तुमसे कुछ माँगता है। फिर भी उस दृश्य का दर्शन तुम्हारे मन को बड़ा आनंद देता है, तुम्हारी आत्मा के अनेक द्वन्द्वों को धीमा कर तुम्हें शान्त कर देता है और थोड़े समय के लिए मानो तुम्हें नश्वर प्रकृति से परे ले जाकर स्वर्गीय आनंद प्राप्त करा देता है। सत्य प्रेम का यही लक्षण इस त्रिकोण का पहला कोण है। अपने प्रेम के बदले में कुछ मत माँगो। सदैव देते ही रहो; अपना प्रेम ईश्वर को दो, परन्तु उसके बदले में उससे भी कुछ माँगो मत।

प्रेम के इस त्रिकोण का दूसरा कोण यह है कि प्रेम निर्भय होता है। जो लोग भयवश ईश्वर से प्रेम करते हैं वे निम्नतम श्रेणी के हैं। उनमें मनुष्यत्व का पूर्ण उदय नहीं हुआ है। दण्ड के भय से वे ईश्वर की उपासना करते हैं। उनकी दृष्टि में वह महान् है, उसके एक हाथ में चाबुक और दूसरे में राजदण्ड रहता है। उन्हें

इस बात का डर रहता है कि यदि वे उसकी आज्ञा का पालन नहीं करेंगे तो उन्हें कोड़े लगाए जाएँगे। परन्तु दण्ड के भय से ईश्वर की उपासना करना नीच वृत्ति है। ऐसी उपासना, यदि उसे उपासना कहें भी तो वह प्रेम की सबसे भद्दी उपासना है। जब तक हृदय में किसी प्रकार का भय है तब तक प्रेम कैसे हो सकता है। प्रेम स्वभावतः सब प्रकार के भय पर विजय प्राप्त कर लेता है। उदाहरणार्थ, यदि एक युवती सड़क पर जा रही हो और उस पर कुत्ता भौंक पड़े तो वह डरकर समीपस्थ घर में घुस जायगी, परन्तु मान लो दूसरे दिन वही स्त्री अपने बच्चे के साथ जा रही हो और उसके बच्चे पर यदि शेर झपटे तो वह क्या करेगी? बच्चे की रक्षा के लिए वह सीधी स्वयं ही शेर के मुँह में चली जायगी। अतएव प्रेम समस्त भय पर विजय प्राप्त कर लेता है। स्वयं को विश्व से भिन्न मान लेने से स्वार्थवश भय उत्पन्न होता है। मैं अपने को जितना क्षुद्र और स्वार्थपरायण मान लूँगा उतना ही अधिक मेरा भय बढ़ जायगा। यदि मनुष्य अपने को एक छोटी सी चीज़ समझ लेगा तो भय भी उसे अवश्य ही घेर लेगा; परन्तु तुम अपने को जितना ही कम निम्नतम समझोगे, उतना ही तुम्हारे लिए भय भी कम होगा। जब तक तुममें थोड़ा सा भी भय रहेगा तब तक तुमसे प्रेम नहीं हो सकता। प्रेम और भय दोनों साथ नहीं रह सकते। जो ईश्वर को प्रेम करते हैं उन्हें उससे डरना नहीं चाहिए। 'ईश्वर का नाम व्यर्थ में न लो' इस आदेश पर ईश्वर का सच्चा प्रेमी हँसता है। प्रेम के धर्म में भगवन्निन्दा

किस प्रकार हो सकती है? ईश्वर का नाम तुम जितना ही लोगे, वह किसी भी प्रकार से क्यों न हो, उतना ही वह तुम्हारे लिए हितकर है। उसका नामोच्चारण तुम इसीलिए करते हो कि तुम्हें उससे प्रेम है।

प्रेमरूपी त्रिकोण का तीसरा कोण यह है कि शुद्ध प्रेम में कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं होता, क्योंकि इसमें प्रेमी का सर्वोच्च ध्येय ही लक्षित रहता है। शुद्ध प्रेम उस समय तक नहीं होता जब तक कि हमारे प्रेम का पात्र हमारा सर्वोच्च आदर्श नहीं बन जाता। कभी कभी ऐसा भी होता है कि मानुषिक प्रेम अनुचित मार्ग पर अग्रसर हो जाता है, परन्तु जो प्रेमी है उसके लिए उसका प्रेमपात्र ही उच्चतम आदर्श है। कोई कोई अपना आदर्श एक अत्यन्त निम्नतम व्यक्ति मान लेते हैं और कोई कोई उच्चतम व्यक्ति। परन्तु प्रत्येक दशा में आदर्श को ही प्रगाढ़ रूप से प्रेम किया जाता है। उच्चतम आदर्श ईश्वर ही है। मनुष्य ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी, साधु हो या पापी, पुरुष अथवा स्त्री, शिक्षित अथवा अशिक्षित, योग्य अथवा अयोग्य, प्रत्येक दशा में मनुष्य-मात्र का परमोच्च आदर्श ईश्वर ही है। सौन्दर्य, महानता तथा शक्ति के उच्चतम आदर्शों की समष्टि से हमें प्रेममय तथा प्रेमास्पद ईश्वर के पूर्णतम भाव का अनुभव होता है। ये आदर्श किसी न किसी रूप में प्रत्येक व्यक्ति के मन में वर्तमान रहते हैं वे हमारे मनों के अंगस्वरूप ही हैं। मानुषिक जीवन के समस्त कार्य-विकास इन आदर्शों को व्यावहारिक जीवन में परिणत करने के यत्न

स्वरूप हैं। अपने चारों ओर समाज में जो हम अनेक प्रकार के आन्दोलन तथा व्यापार देखते हैं वे भिन्न भिन्न आत्माओं के अपने अपने आदर्शों को कार्यरूप में परिणत करने की चेष्टा के फलस्वरूप है। जो भावना भीतर होती है वही बाहर निकलने का यत्न करती है। मानव-हृदय में इस आदर्श का चिर प्रबल प्रभाव ही एक मात्र सर्वनियामक महाशक्ति है जो मनुष्य-मात्र में सतत क्रियाशील रहती हैं। सम्भव है कि सैकड़ों जन्म तथा हजारों वर्ष के प्रयत्न के बाद मनुष्य को यह पता चले कि उसे अपने आभ्यन्तरिक आदर्शों को बाहरी परिस्थितियों के अनुकूल कर लेने का यत्न व्यर्थ है। और यह अनुभव कर लेने के बाद फिर वह बाहरी संसार को अपने आदर्श के अनुकूल करने का यत्न नहीं करेगा, वरन् आदर्श की ही आदर्श रूप में उच्चतम प्रेमदृष्टि से उपासना करेगा। अन्य सब छोटे आदर्श फिर इसी पूर्ण आदर्श के अन्तर्गत हो जाते हैं। इस कहावत को सब मानते हैं कि जिसका जिसमें मन लगा होता है वही उसका आदर्श होता है। एक साधारण दर्शक को चाहे ऐसा प्रतीत हो कि वह प्रेम अनुचित पात्र में लगाया गया है, परन्तु प्रेमी को सर्वत्र अपना प्रेम-पात्र ही दिखाई देता है। जो कोई भी हमारा प्रेमपात्र होता है उसी पर हमारा आदर्श केन्द्रीभूत हो जाता है। साधारणतया विश्व जिसकी उपासना करता है वह क्या है?—सचमुच वह पूर्ण आदर्श नहीं है जो एक उच्चतम भक्त तथा प्रेमी का होता है। साधारण स्त्री-पुरुष के हृदय में जो आदर्श रहता है उसी की वह उपासना

करता है। प्रत्येक व्यक्ति अपना अपना आदर्श विश्व में सामने रखता है और उसको सिर झुकाता है। इसीलिए हम देखते हैं कि जो लोग निर्दयी तथा खूनी होते हैं वे एक रक्तपिपासु ईश्वर की ही कल्पना करते तथा उसे भजते हैं, क्योंकि उनका जो सर्वोच्च आदर्श हो सकता है उसी की वे उपासना करेंगे। और इसीलिए साधुजनों का ईश्वरी आदर्श बहुत ऊँचा होता है और वास्तव में अन्य लोगों के आदर्श से बहुत भिन्न होता है।

१८. प्रेममय भगवान् अपना स्वयं ही प्रमाण है।

जो प्रेमी स्वार्थपरायणता, फलाकांक्षा तथा भय के परे हो गया है उसका आदर्श क्या है? ऐसा मनुष्य परमेश्वर से यही कह देगा, "मैं तुम्हें अपना सर्वस्व अर्पण करता हूँ, स्वयं किसी बात की मुझे आकांक्षा नहीं है। और ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं जिसे मैं अपनी कह सकूँ।" जब मनुष्य की ऐसी अवस्था हो जाती है तो उसका आदर्श पूर्ण प्रेम तथा पूर्ण अभय का हो जाता है। ऐसे मनुष्य का आदर्श किसी प्रकार की विशेषता से संकीर्ण नहीं होता। वह आदर्श विश्व प्रेम एवं असीम अनन्त प्रेम हो जाता है तथा स्वयं प्रेमस्वरूप अर्थात् पूर्ण स्वतंत्र प्रेम के रूप में प्रकटित हो जाता है। प्रेमधर्म के इस महान् आदर्श की उपासना किसी भी प्रकार की प्रतीक अथवा प्रतिमा की सहायता से न होकर अपने आप ही होती है। इस विश्वव्यापी आदर्श को आदर्श मानकर उपासना करना ही उत्कृष्ट पराभक्ति है। भक्ति के अन्य सब रूप केवल सोपान स्वरूप हैं। प्रेमधर्म की साधना में हमारी सफलता अथवा असफलता हमें इसी आदर्श की प्राप्ति की ओर ले जाती है। एक के बाद दूसरी वस्तु को लेकर उस पर हमारा आभ्यन्तरिक आदर्श प्रक्षिप्त किया जाता है और चूँकि क्रमशः ये सब बाह्य वस्तुएँ हमारे इस विस्तारशील आभ्यन्तरिक

आदर्श के प्रकाश के लिए अनुपयुक्त सिद्ध होती हैं इसलिए वे स्वभावतः धीरे धीरे तिरस्कृत हो जाती हैं; यहाँ तक कि अन्त में साधक यह अनुभव करने लगता है कि बाह्य वस्तुओं में आदर्श की उपलब्धि की चेष्टा करना व्यर्थ है। उसे यह ज्ञान हो जाता है कि स्वयं आदर्श के सम्मुख बाह्य वस्तुएँ कुछ भी नहीं हैं और कुछ समय के बाद वह सर्वोच्च सम्पूर्ण निर्विशेष आदर्श को सम्पूर्ण रूप से अपने अन्तःकरण में सत्य तथा चैतन्यरूप में अनुभव करने के लिए समर्थ हो जाता है। भक्त जब इस अवस्था को पहुँच जाता है तो उसे यह पूछने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि ईश्वर प्रत्यक्ष रूप से दिखाया जा सकता है अथवा नहीं, वह सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् है अथवा नहीं। उसके लिए तो वह प्रेममय ही है। वह प्रेम का उच्चतम आदर्श है और इतना ही उसके लिए पर्याप्त है। प्रेमस्वरूप होने से वह स्वयंसिद्ध है, फिर प्रेमी को उसके प्रेमपात्र के अस्तित्व को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। दूसरे धर्मों के 'पंचायती' ईश्वर को सिद्ध करने के लिए तुम्हें समुचित प्रमाण की आवश्यकता हो सकती है, परन्तु प्रेमी भक्त तो ऐसे ईश्वर का विचार मन में भी नहीं ला सकता। उसके लिए ईश्वर केवल प्रेमस्वरूप ही है। "प्रियतमे, पति को कोई पति होने के कारण प्रेम नहीं करता, बल्कि पति के अन्तर्गत आत्मा के कारण ही पति का प्रेम किया जाता है और इसी प्रकार कोई व्यक्ति पत्नी को पत्नी होने के कारण प्रेम नहीं करता; पत्नी के अन्तर्गत आत्मा के कारण ही उसका प्रेम किया जाता है।" कुछ लोगों का कथन है कि स्वार्थपरायणता ही मनुष्य के समस्त कर्मों का मूल है। वह भी

प्रेम कहा जा सकता है, परन्तु संकीर्ण होने के कारण वह निम्न श्रेणी का हो जाता है। जब मैं स्वयं को विश्वव्यापी समझता हूँ तो मुझमें स्वार्थता नहीं रह जाती; परन्तु जब मैं भ्रमवश यह सोचने लगता हूँ कि मैं स्वयं मर्यादित हूँ तो मेरा प्रेम संकीर्ण तथा विशेष-भावापन्न हो जाता है। गलती इसी में होती है कि हम अपने प्रेम के क्षेत्र को संकीर्ण तथा सीमाबद्ध कर लेते हैं। विश्व की सब वस्तुएँ ईश्वरजन्य हैं और इसलिए वे प्रेमपात्र हैं। यही ध्यान में रखना चाहिए कि समष्टि के प्रेम में ही अंश का प्रेम अन्तर्भूत है। यह समष्टि ही भक्त का ईश्वर है। और अन्य प्रकार के ईश्वर जैसे स्वर्ग में रहने वाले पिता, शास्ता तथा अनेक प्रकार के मतामत एवं शास्त्र, भक्तों के लिए किसी प्रयोजन के नहीं हैं, क्योंकि अनन्य प्रेम तथा भक्ति द्वारा वे इन सभों के परे चले गए हैं। जब हृदय शुद्ध तथा दैवी प्रेमामृत से परिप्लावित हो जाता है तो ईश्वर सम्बन्धी अन्य सब विचार गौण होकर अपूर्ण एवं अनुपयुक्त हो तिरस्कृत हो जाते हैं। वास्तव में पराभक्ति का प्रभाव ऐसा ही है और फिर पूर्ण भक्त ईश्वर को मन्दिरों तथा गिर्जाघरों में ढूंढ़ने नहीं जाता। उसे कोई ऐसा स्थान ही नहीं दीखता जहाँ उसके लिए ईश्वर न हो। उसके लिए वह मन्दिर में भी है तथा मन्दिर के बाहर भी, साधु की साधुता में है तथा दुष्ट की दुष्टता में भी; क्योंकि वह तो उसको अपने हृदय में पहले से ही नित्यदीप्तिमान, नित्यवर्तमान तथा सर्व-शक्तिमान् के रूप में बिठा चुका है।

१९. दैवी प्रेम की मानवी विवेचना

सम्पूर्ण तथा परमोच्च प्रेम के आदर्श को मानवी भाषा में प्रकट करना असम्भव है। उच्चतम मानवी कल्पना उसकी अनन्त पूर्णता तथा सौन्दर्य को अनुभव करने में असमर्थ है। परन्तु फिर भी समस्त काल तथा देश के प्रेमधर्म के उच्च तथा निम्न श्रेणी के उपासकों ने अपने अपने प्रेमादर्श को अनुभव तथा वर्णित करने के लिए अपूर्ण मानवी भाषा का प्रयोग किया है। इतना ही नहीं बल्कि भिन्न भिन्न स्वरूपों में मानवी प्रेम द्वारा ही यह अकथनीय दैवी प्रेम व्यक्त किया गया है। दैवी विषयों का विचार मनुष्य मानवी ढंग से ही कर सकता है, इसी प्रकार वह पूर्ण परमेश्वर केवल हमारी आपेक्षिक भाषा में वर्णित किया जा सकता है। समस्त संसार हमारे लिए और क्या है? वह तो मानो सान्त भाषा में ही लिखा हुआ 'अनन्त' है। इसलिए ईश्वर तथा उसके प्रेम के निमित्त भक्तलोग उन्हीं शब्दों का प्रयोग करते हैं जो साधारण मानवी प्रेम के लिए उपयोग में लाए जाते हैं। पराभक्ति के अनेक व्याख्याताओं ने इस दैवी प्रेम को अनेक प्रकार से समझने तथा अनुभव करने की चेष्टा की है। इस प्रेम का निम्नतम रूप वह माना जाता है जिसे शान्त भक्ति कहते हैं। जब मनुष्य बिना प्रेमाग्नि तथा पागलपन के ईश्वर की पूजा करता है और जब उसका प्रेम प्रायः साधारण कोटि का होता है तथा बाह्य क्रियाकलाप आदि से केवल थोड़ा ही उच्च श्रेणी का होता है,

परन्तु प्रगाढ़ प्रेम की उन्मत्तता से संचारित नहीं होता, तो उसे शान्त भक्ति कहते हैं। हम देखते हैं कि संसार में कुछ लोग साधना-पथ पर बड़े आराम से धीरे धीरे चलते हैं; पर कुछ लोग बड़े वेग से आते हैं और वैसे ही चले जाते हैं। शान्त भक्त धीर, स्थिर तथा नम्र होता है। इसके बाद इससे कुछ उच्च दशा दास्य भक्ति की होती है। यह दशा उस समय प्राप्त होती है जब मनुष्य अपने तईं यह सोचता है कि वह ईश्वर का दास है। विश्वासी सेवक की अपने स्वामी के प्रति अनन्य भक्ति ही उसका आदर्श है।

एक दूसरे प्रकार का प्रेम सख्य प्रेम होता है। अर्थात् जब भक्त ईश्वर से कहता है, 'तुम हमारे परम प्रिय मित्र हो।' ‡ जिस प्रकार एक मनुष्य अपना हृदय अपने मित्र के सम्मुख खोल देता है और यह जानता है कि उसका मित्र उसके अवगुणों पर कभी ध्यान न देकर उसकी सदा सहायता ही करेगा तथा जिस प्रकार उन दोनों में समानता का भाव रहता है उसी प्रकार उपासक तथा उसके सखास्वरूप ईश्वर के बीच में पारस्परिक प्रेम का प्रवाह होता है। इस प्रकार ईश्वर हमारा मित्र हो जाता है और एक ऐसा मित्र जो हमारे इतने समीप होता है कि उससे हम अपने जीवन की समस्त घटनाएँ बड़ी स्वतंत्रता-पूर्वक कह सकते हैं, जिसके समक्ष हम अपने हृदय के गुह्यतम भावों को नितान्त निर्भीकता तथा भरोसे से रख सकते हैं। वह ऐसा मित्र होता है जिसे भक्त अपनी बराबरी का मानता है। ऐसी दशा

‡ त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव। —पाण्डव गीता।

में ईश्वर को हम अपना सखा मानते हैं। हम कह सकते हैं कि मानो हम सब इस संसार में खेल रहे हैं। जिस प्रकार बच्चे अपना खेल खेलते हैं अथवा जिस प्रकार बड़े बड़े राजा तथा सम्राट अपना अपना खेल खेलते हैं उसी प्रकार हमारा प्रेमी ईश्वर इस विश्व के साथ खेल रहा है। वह पूर्ण है, उसे किसी चीज़ का अभाव नहीं। उसे सृष्टि-निर्माण की क्या आवश्यकता है? जब हमें किसी चीज़ की आवश्यकता होती है तभी उसकी पूर्ति के लिए क्रिया का आरम्भ होता है और अभाव से ही हमें असम्पूर्णता का बोध होता है। ईश्वर पूर्ण है, उसे किसी चीज़ का अभाव नहीं। फिर वह इस कर्ममय सृष्टि में क्यों लगा है? उसका उद्देश्य क्या है? ईश्वर के सृष्टि-निर्माण के सम्बन्ध में जो भिन्न भिन्न कल्पनाएँ हैं वे किम्वदन्तियों के रूप में ही भली हो सकती हैं, अन्य किसी प्रकार नहीं। यह सब उसकी लीला है। विश्व उसका लीला-क्षेत्र है। समस्त संसार उसका एक बड़ा खिलौना कहा जा सकता है। यदि तुम निर्धन हो तो उसी को एक तमाशा समझो और यदि तुम धनी हो तो धनी होने के तमाशे का ही आनंद लूटो। इसी प्रकार यदि क्लेश आए तो वह भी एक तमाशा है और यदि सुख प्राप्त हो तो उसे भी तमाशा समझो। संसार एक क्रीड़ा-क्षेत्र है और यहाँ हम सब बड़ा खेलखिलवाड़ कर रहे हैं और ईश्वर हमारे साथ निरन्तर खेलता रहता है तथा हम भी उसके साथ क्रीड़ा करते रहते हैं। ईश्वर हमारा सदैव का साथी है। कैसी सुन्दरता से वह खिलवाड़ करता है! और जब खेल समाप्त हो जाता है तो एक कल्प का अन्त हो जाता है; कुछ देर हम सब विश्राम

करते हैं और फिर सब खेलने को निकल आते हैं। इस प्रकार फिर जगत् की सृष्टि होती है। क्लेश और दुःख उसी समय आते हैं जब तुम यह भूल जाते हो कि यह सब खेल है, तथा तुम उस खेल में एक सहायक मात्र हो। तब तो तुम्हारा हृदय बड़ा क्लान्त हो जाता है और संसार तुम्हारे ऊपर बलपूर्वक ढा पड़ता है। परन्तु ज्योंही तुम अपने जीवन की असलियत को यों मान लेते हो कि ये तो केवल क्षणिक जीवन की परिवर्तनशील घटनाएँ हैं तथा जब तुम इसे केवल एक क्रीड़ाक्षेत्र समझ लेते हो जिसमें तुम ईश्वर के खिलवाड़ में सहायक मात्र हो तो तुम्हारे क्लेशों का तुरन्त ही अन्त हो जाता है। ईश्वर का क्रीड़ास्थल प्रत्येक अणु में है। पृथ्वी, सूर्य तथा चन्द्रमा का निर्माण भी उसका खिलवाड़ है और इसी प्रकार मनुष्य का हृदय, पशु तथा वृक्षादि सभी उसकी क्रीड़ा की सामग्री हैं। हम केवल उसकी गोटियाँ हैं। कभी वह गोटियों को रखकर खूब हिला देता है; कभी वह हमें एक ढंग से सजाता है और कभी किसी दूसरे ढंग से; और हम ज्ञान अथवा अज्ञानवश उसके खेल में निरन्तर सहायक ही बने रहते हैं। धन्य है कि हम उसके क्रीड़ा-सहायक हैं।

एक और प्रकार का प्रेम वात्सल्य-प्रेम कहलाता है अर्थात ईश्वर को पितातुल्य प्रेम न करके हम उसे सन्तान के रूप में मानते हैं। चाहे यह विचित्र सा भले ही प्रतीत हो, परन्तु यह एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा ईश्वर की धारणा में ऐश्वर्य का समस्त भाव दूर हो जाता है। ऐश्वर्य-भाव के साथ भय का भाव भी रहता है,

परन्तु सच्चे प्रेम में भय का लेश नहीं रहना चाहिये। चरित्र निर्माण के लिए भक्ति तथा आज्ञापालन की आवश्यकता है और जब चरित्र निर्माण हो जाता है तथा जब प्रेमी को शान्त प्रेम का आस्वादन हो जाता है और उसके फलस्वरूप उसे तीव्र उन्मत्तता का भी कुछ आस्वादन हो जाता है तब उसे नीति-शास्त्र, साधन-नियम आदि की आवश्यकता नहीं रह जाती। फिर प्रेमी कहता है कि उसे ईश्वर को सर्वशक्तिशाली, ऐश्वर्यमान् तथा जगत्पिता अथवा 'देव-देव' के रूप में देखने की इच्छा नहीं रह जाती। भगवान् के चिन्तन के सम्बन्ध में इन भयोत्पादक विचारों को दूर रखने के हेतु ही वह ईश्वर की उपासना अपने बच्चे के रूप में करता है। अपने बच्चे की ओर से माता-पिता कभी भयभीत नहीं होते। उन्हें बच्चे के प्रति भक्ति भी नहीं होती और न उससे किसी प्रकार की याचना ही। बच्चे की दशा तो सदा कुछ पाने वाले की ही होती है और अपने बच्चे के प्रेम के हेतु माता-पिता सैकड़ों बार भी अपने प्राण दे सकते हैं। अपने एक बच्चे के लिए वे हजारों जन्म न्योछावर कर देंगे और इसीलिए ईश्वर का प्रेम पुत्रवत् किया जाता है। ईश्वर को सन्तान के रूप में प्रेम करने का विचार उन्हीं धार्मिक सम्प्रदायों में आता तथा वृद्धि पाता है जो ईश्वरावतार में विश्वास करते हैं। मुसलमानों के लिए ईश्वर को सन्तान के रूप में मानना असम्भव है। वे तो इससे डरकर दूर हो जाएँगे, परन्तु ईसाई और हिन्दू इसका अनुभव सरलता से कर सकते हैं, क्योंकि इनके यहाँ बालक ईसा मसीह तथा बालकृष्ण हुए

हैं। भारतीय स्त्रियाँ बहुधा अपने को भगवान् श्रीकृष्ण की जननी मानती हैं और इसी प्रकार यदि ईसाई माताएँ भी अपने मन में यह विचार बिठा लें कि वे ईसा मसीह की माताएँ हैं तो पाश्चात्य देशों में भी दैवी मातृत्व का वह भाव समा जाय जिसकी उन्हें आज बड़ी आवश्यकता है। हमारे हृदय में ईश्वर के प्रति भय-भक्ति के कुसंस्कार बहुत गहरे जमे हुए हैं और ईश्वर सम्बन्धी इस भय-भक्ति-ऐश्वर्य-महिमा के भाव को प्रेम भाव में लिप्त कर देने में बहुत समय लगता है।

मानवी जीवन में दैवी प्रेम एक प्रकार से और प्रकट होता है। इसे 'मधुर' प्रेम कहते हैं और यह सब प्रेमों में उच्चतम है। यह संसार के सर्वोच्च प्रेम के आधार पर निर्भर है तथा मानवी प्रेम में प्रबलतम है। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक प्रेम के अतिरिक्त ऐसा अन्य प्रेम कौन है जो मनुष्य की सारी प्रकृति को उलटपलट कर सके? ऐसा प्रेम और कौन है जो मनुष्य के प्रत्येक परमाणु में व्याप्त रहता हो, जो उसे पागल बना देता हो, जिसके कारण वह अपनी प्रकृति को भूल जाता है तथा जिसके द्वारा वह चाहे तो देवता बन सकता है, चाहे पशु। इस मधुर दैवी प्रेम में ईश्वर पति के सदृश है और हम सब स्त्रियों के सदृश। इस संसार में कोई पुरुष है ही नहीं, केवल एक ही पुरुष है और वह है हमारा प्रेमी ईश्वर। जो कुछ प्रेम मनुष्य स्त्री को दे सकता है अथवा स्त्री मनुष्य को दे सकती है वह सब ईश्वर को समर्पण कर देना होता है। संसार के समस्त प्रेमों का, जिनसे हम क्रीड़ा मात्र करते रहते हैं, एक ही लक्ष्य है और वह है ईश्वर। बात इतनी ही

है कि दुर्भाग्यवश मनुष्य को उस अनन्त सागर का बोध नहीं रहता जिसमें प्रेम की यह वेगवती सरिता निरन्तर बहती रहती है और इसलिए अज्ञानवश वह इस प्रेम-सरिता को बहुधा छोटे छोटे मानवी पुतलों की ओर ही बहाता रहता है। मनुष्य के हृदय में सन्तान के प्रति जो प्रगाढ़ प्रेम रहता है वह केवल सन्तानरूप में एक छोटे पुतले के लिए ही नहीं रहता। यदि तुम इसे अज्ञानवश आँख बन्द करके सन्तान के ऊपर ही न्योछावर कर दो तो तुम उसका फल भोगोगे। परन्तु उस क्लेश के द्वारा तुम्हें इस बात का ज्ञान हो जायगा कि तुममें जो प्रेम है उसे यदि तुम किसी मानवी जीव की ओर लगाओगे तो कभी न कभी फलस्वरूप तुम्हें दुःख और कष्ट अवश्य होगा। अतएव हमारा प्रेम उसकी ओर होना चाहिए जो सर्वश्रेष्ठ है, जो विनाशकारी तथा परिवर्तनशील नहीं है—अपना प्रेम उसकी ओर लगाओ जिसके अनन्त प्रेम-सागर में न कभी कमी होती है, न बाढ़।

प्रेम को अपने ठीक लक्ष्य पर अवश्य पहुँच जाना चाहिए। उसे उसी के पास जाना चाहिए जो प्रेम का अनन्त समुद्र है। सभी नदियाँ समुद्र की ओर बहती हैं। पहाड़ से निकले हुए जल का एक बूँद भी किसी नदी अथवा नाले में पहुँचने के बाद अपनी गति को रोक नहीं सकता। अन्त मे वह समुद्र में पहुँच ही जाता है। ईश्वर हमारे सब प्रकार के भावों का एकमात्र लक्ष्य है। यदि तुम क्रोध करना चाहते हो तो उसीसे क्रोध करो। अपने प्रेमी तथा मित्र को ही धमकाओ, तुम और किसे निर्भयता से धमका सकते हो? मर्त्य जीव तुम्हारे क्रोध को चुपचाप नहीं स

देगा। वहाँ तो प्रतिक्रिया होगी। यदि तुम मुझ पर क्रोध करोगे तो निश्चय ही मैं उसका शीघ्र प्रत्युत्तर दूँगा, क्योंकि मैं सरलतापूर्वक तुम्हारे क्रोध को नहीं सह सकता। अपने प्रेमी से कहो, "तुम मेरे पास क्यों नहीं आते? तुम मुझे इस प्रकार अकेला क्यों छोड़ते हो?" उसके अतिरिक्त आनंद कहाँ है? मिट्टी के छोटे छोटे ढेलों में क्या सुख हो सकता है? हमें तो अनन्त आनद का निचोड़ पाना है और वह ईश्वर में है। हमारी सब प्रवृत्तियों तथा भावों को उसी के समीप जाना चाहिए। वे उसी के लिए हैं, क्योंकि यदि हमारे भाव अपने लक्ष्य को चूक जाएँगे तो वे कुत्सित रूप धारण कर लेंगे। परन्तु यदि वे सीधे लक्ष्य अर्थात् ईश्वर की ओर जाते हैं तो उनमें से निम्नतम भी उच्चतर रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। मनुष्य के शरीर तथा मन की समस्त शक्तियों का, चाहे जिस रूप में भी वे प्रकट क्यों न हो, एक ही लक्ष्य (एकायन) रहता है और वह है ईश्वर। मानवी हृदय के समस्त प्रेम तथा भाव ईश्वर की ओर ही जाने चाहिए। वही प्रेमपात्र है। यह हृदय और किसे प्यार कर सकता है? वही परम सुन्दर है, परम महान् है—वही स्वयं सौन्दर्य तथा महत्त्व-स्वरूप है। उसे छोड़कर इस विश्व में पति होने योग्य और कौन है? उसे छोड़कर इस संसार में प्रेम किए जाने योग्य और कौन है? अतएव, उन्हीं को हमारा पति होने दो, उन्हीं को हमारा प्रेमपात्र बनने दो। बहुधा देखा जाता है कि भक्तगण जो दैवी प्रेम का राग अलापते हैं, इसे वर्णन करने के लिए भिन्न भिन्न प्रकार की मानुषिक प्रेमसम्बन्धी

भाषाओं को उपयोगी समझकर ग्रहण कर लेते हैं। बेचारे अज्ञानिओं को न इसका बोध होता है और न कभी हो सकेगा। वे तो इसे केवल जड़ दृष्टि से देखते हैं। वे इस आध्यात्मिक प्रेम की उन्मत्तता को नहीं समझ पाते और समझ भी कैसे सकें? "हे प्रियतम, तुम्हारे अधरों के एक चुम्बन के लिए! जिसका चुम्बन आपके द्वारा एक बार भी हुआ है, उसकी पिपासा आपके लिए सदा को बढ़ जाती है; उसके समस्त क्लेश दूर हो जाते हैं और आप को छोड़कर वह सब कुछ भूल जाता है।"† प्रेमी के उसी एक चुम्बन के लिए व्याकुल होओ, उसी अधरस्पर्श के लिए जो भक्त को पागल बना देता है, जो मनुष्य को देवता बना देता है,—जिसे ऐसे चुम्बन का वरदान मिल जाता है उसके लिए समस्त प्रकृति बदल जाती है, संसार लुप्त हो जाता है सूर्य तथा चन्द्र नष्ट हो जाते हैं, और स्वयं विश्व उस अनन्त प्रेम-सागर का रूप धारण कर लेता है। प्रेम के पागलपन का यही पूर्ण स्वरूप है। पर इतना ही नहीं—सच्चा दैवी प्रेमी यहीं पर नहीं रुकता। पति और पत्नी का प्रेम भी उसके लिए इतना उन्मादक नहीं होता। भक्त अवैध (परकीय) प्रेम का भाव भी ग्रहण करते हैं, क्योंकि वह अत्यन्त प्रबल होता है। उसकी अवैधता उसके लक्ष्य में नहीं है। इस प्रेम का स्वभाव यह होता है कि

---

† सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम्।
इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्॥

—श्रीमद्भागवत, १०। ३१।१४

इसके मार्ग में जितनी ही बाधाएँ आती हैं, उतना ही यह तीव्र होता जाता है। पति-पत्नी का प्रेम बड़ा सहज होता है, उसमें कोई बाधाएँ नहीं होतीं। इसलिए भक्त इस प्रकार का भाव ले लेते हैं मानो कि एक लड़की किसी अपने प्रेमी पर आसक्त है और उसके माता-पिता अथवा उसका पति उसके प्रेम का निषेध करते हैं। फल यह होता है जितना ही कोई उसके प्रेम में बाधा डालता है उतना ही उसका प्रेम अधिक प्रबल होता जाता है। यह वर्णन करना मनुष्य शक्ति के बाहर है कि वृन्दावन के कुञ्जों में भगवान् श्रीकृष्ण का कितना उन्मत्त होकर प्रेम किया जाता था, उनकी बांसुरी की तान सुनते ही वे धन्य गोपियाँ अपना सब कुछ भूलकर, संसार के समस्त बन्धनों को तोड़, अपने सब सुख और दुःखों को भुला उनसे मिलने के लिए दौड़ जाती थीं। ऐ पुरुष, तुम दैवी प्रेम की बात करते हो, परन्तु फिर भी साथ ही साथ तुम संसार के सब भ्रमात्मक विषयों में भी पड़े रहते हो, तो भला बताओ क्या तुम्हारा हृदय शुद्ध है? "जहाँ भगवान् राम हैं वहाँ काम नहीं है और जहाँ काम है वहाँ राम नहीं। प्रकाश और अंधकार कभी साथ साथ नहीं रह सकते।" $

$ जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहूं होत नहिं, रवि रजनी इक ठाम॥

—गो० तुलसीदासजी

उपसंहार

जब प्रेम का यह परमोच्च आदर्श प्राप्त हो जाता है तो ज्ञान दूर चला जाता है। फिर इसकी कौन इच्छा करता है? मुक्ति, निर्वाण आदि सब तिरस्कृत हो जाते हैं। दैवी प्रेम के आनंद में मुक्ति की किसे इच्छा रहती है? "प्रभो, मुझे धन की इच्छा नहीं, मित्रों की नहीं, सौन्दर्य की नहीं, विद्या की नहीं, और न मुक्ति की ही। इच्छा इतनी ही है कि मुझे आप बार बार जन्म दें और सदैव आप मेरे प्रेमास्पद हों। आप जन्म जन्म में मेरे प्रेमी हों।" भक्त कहता है, "स्वयं शक्कर बन जाना कौन चाहता है, मैं तो शक्कर का स्वाद लेना चाहता हूँ।" फिर मुक्त होकर ईश्वर में मिल जाने की कौन इच्छा करेगा? भक्त कहता है, "यह जानते हुए भी कि मैं वही हूँ, मैं अपने को उससे पृथक् रखूँगा, जिससे मैं उसका प्रियतम के रूप में सम्भोग कर सकूँ।" प्रेम के लिए ही प्रेम करना भक्त का सर्वोच्च सुख है। प्रियतम के सम्भोग के लिए कौन हजार बार बद्ध नहीं होगा? भक्त प्रेम के अतिरिक्त अन्य किसी चीज़ की इच्छा नहीं करता—वह चाहता है केवल प्रेम करना और प्रेमास्पद होना। उसका निष्काम प्रेम नदी की उलटी दिशा में प्रवाह के सदृश है। प्रेमी धार के विरुद्ध, ऊपर की ओर जाता है। संसार उसे पागल कहता है। मैं एक ऐसे महापुरुष को जानता हूँ जिसे संसार पागल कहता था; परन्तु उनका उत्तर यही होता था, "मित्रो, समस्त संसार

एक पागलखाने के सदृश है। कोई सांसारिक प्रेम के लिए पागल है, कोई नाम के लिए, कोई कीर्ति के लिए, कोई धन के लिए और कोई मुक्ति या स्वर्ग के लिए। इस बड़े भारी पागलखाने में मैं भी एक पागल हूँ। मैं ईश्वर के लिए पागल हूँ। यदि तुम धन के लिए पागल हो तो मैं ईश्वर के लिए। जैसे तुम पागल हो, वैसा ही मैं। परन्तु मैं समझता हूँ मेरा पागलपन सब से अच्छा है।" एक सच्चे भक्त का प्रेम वही तीव्र उन्मत्तता है जिसके समक्ष उसकी दृष्टि में और सब कुछ लुप्त हो जाता है। उसकी दृष्टि में समस्त संसार केवल प्रेम से भरा है। प्रेमी को सदैव यही प्रतीत होता है। अतएव जब एक मनुष्य में इस प्रकार का प्रेम आ जाता है तो वह अनन्त काल के लिए धन्य तथा सुखी हो जाता है। दैवी प्रेम की यह पवित्र उन्मत्तता ही हमारी समस्त संसार-व्याधि को सदा के लिए नष्ट कर देती है। वासनाओं के साथ स्वार्थपरायणता भी नष्ट हो जाती है। वह ईश्वर के समीप आजाता है। उसके हृदय में जो अन्य वासनाएँ पहले भरी थीं वे नष्ट हो जाती हैं।

प्रेम-धर्म में हमें द्वैतभाव से शुरू करना होता है। उस अवस्था में ईश्वर भिन्न प्रतीत होता है और हम भी अपने को उससे भिन्न मानते है। प्रेम बीच में आ जाता है और मनुष्य ईश्वर की ओर बढ़ने लगता है तथा ईश्वर भी धीरे धीरे मनुष्य के समीप आता जाता है। शनैः शनैः मनुष्य जीवन के भिन्न भिन्न सम्बन्धों को ग्रहण करता जाता है जैसे पिता, माता, पुत्र, मित्र, स्वामी, प्रेमी आदि आदि, और उन्हें अपने प्रेम के आदर्श

ईश्वर के प्रति आरोपित करता जाता है। उसके लिए ईश्वर इन सब में व्याप्त हो जाता है और उसकी उन्नति की परम सीमा उस समय पहुँच जाती है जब वह यह अनुभव कर लेता है कि वह अपने उपास्य देवता में लीन हो गया है। प्रथमावस्था में तो हम सब स्वयं को ही प्रेम करते हैं और क्षुद्र अहंभाव प्रेम को भी स्वार्थपर बना देता है। परन्तु अन्त में पूर्ण ज्ञान का विकास होता है जिससे क्षुद्र अहंभाव उस अनन्त में एकीभूत सा हो जाता है। फिर मनुष्य स्वयं इस प्रेम के प्रकाश में सम्पूर्ण रूप से परिवर्तित हो जाता है और अन्त में उसे इस सुन्दर एवं स्फूर्तिदायक सत्य का अनुभव हो जाता है कि प्रेम, प्रेमी तथा प्रेमास्पद सब एक ही हैं।

हमारे अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग

१-३. **श्रीरामकृष्णवचनामृत**-तीन भागों में-अनु० पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' प्रथम भाग (द्वितीय संस्करण)-मूल्य ६);
द्वितीय भाग-मूल्य ६); तृतीय भाग-मूल्य ७॥)

४-५. **श्रीरामकृष्णलीलामृत**-(विस्तृत जीवनी)-(द्वितीय संस्करण)-
दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य......५)

६. **विवेकानन्द-चरित**-(विस्तृत जीवनी)-सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, मूल्य ६)

७. **विवेकानन्दजी के संग में**-(वार्तालाप)-(द्वितीय संस्करण)-
शिष्य शरच्चन्द्र, मूल्य ५)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

८. **भारत में विवेकानन्द**-(विवेकानन्दजी के भारतीय व्याख्यान)		५)
९. **पत्रावली** (प्रथम भाग)	(प्रथम संस्करण)	२=)
१०. ,, (द्वितीय भाग)	(प्रथम संस्करण)	२=)
११. **धर्मविज्ञान**	(द्वितीय संस्करण)	१॥=)
१२. **कर्मयोग**	(द्वितीय संस्करण)	१॥=)
१३. **हिन्दू धर्म**	(द्वितीय संस्करण)	१॥)
१४. **प्रेमयोग**	(तृतीय संस्करण)	१।=)
१५ **आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग**	(तृतीय संस्करण)	१।)
१६. **परिव्राजक**	(चतुर्थ संस्करण)	१।)
१७. **प्राच्य और पाश्चात्य**	(चतुर्थ संस्करण)	१।)
१८. **महापुरुषों की जीवनगाथायें**	(प्रथम संस्करण)	१।)
१९. **राजयोग**	,,	१=)
२०. **स्वाधीन भारत! जय हो!**	(प्रथम संस्करण)	१=)
२१. **धर्मरहस्य**	(प्रथम संस्करण)	१)
२२. **भारतीय नारी**	(प्रथम संस्करण)	।॥)
२३. **शिक्षा**	(प्रथम संस्करण)	॥=)
२४. **शिकागो-वक्तृता**	(पञ्चम संस्करण)	॥=)

२५. हिन्दू धर्म के पक्ष में (द्वितीय संस्करण) ।/=)

२६. मेरे गुरुदेव (चतुर्थ संस्करण) ॥=)

२७. वर्तमान भारत (तृतीय संस्करण) ॥)

२८. पवहारी बाबा (द्वितीय संस्करण) ॥)

२९. मेरा जीवन तथा ध्येय (द्वितीय संस्करण) ॥)

३०. मरणोत्तर जीवन (द्वितिय संस्करण) ॥)

३१. मन की शक्तियाँ तथा जीवनगठन की साधनायें ॥)

३२. भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ—स्वामी विवेकानन्द, स्वामी शारदानंद, स्वामी ब्रह्मानंद, स्वामी शिवानन्द, मूल्य ॥=)

३३. मेरी समर-नीति (प्रथम संस्करण) ।≡)

३४. ईशदूत ईसा (प्रथम संस्करण) ।=)

३५. परमार्थ-प्रसंग—स्वामी विरजानंद, (आर्ट पेपर पर छपी हुई)
कपड़े की जिल्द, मूल्य ३॥)
कार्डबोर्ड की जिल्द ,, ३।)

३६. विवेकानन्दजी की कथायें (प्रथम संस्करण) १।)

३७. श्रीरामकृष्ण-उपदेश—स्वामी ब्रह्मानंद द्वारा संकलित, (प्रथम संस्करण) ॥=)

मराठी विभाग

१-२. श्रीरामकृष्ण चरित्र-प्रथम भाग, (तिसरी आवृत्ति) ३।)
,, ,, द्वितीय भाग (दुसरी आवृत्ति) ३।)

३. श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा—(दुसरी आवृत्ति) ॥॥=)

४. शिकागो-व्याख्यानें-(दुसरी आवृत्ति) स्वामी विवेकानंद ॥=)

५. माझे गुरुदेव-(दुसरी आवृत्ति)-स्वामी विवेकानंद ॥=)

६. हिंदु-धर्माचें नव-जागरण-स्वामी विवेकानंद ॥/)

७. पवहारी बाबा-स्वामी विवेकानंद ॥)

८. साधु नागमहाशय-चरित्र (भगवान श्रीरामकृष्णांचे सुप्रसिद्ध शिष्य)-
(दुसरी आवृत्ति) २)

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर-१, मध्यप्रदेश